Printed at the Chandraprabha Press

BY

Manager Gaurishanker Lall

AND

Published by Seth Chandu Lal Poonum Chand

FOR

Yashovijaya Jain Grantha Mala

Bhavanager.

शास्त्रविशारद जैनाचार्य

श्रीविजयधर्मसूरि ए. एम. ए. एस. बी.

उत्सर्ग

जैन-संसार में

इतिहास के अद्वितीय विद्वान्

और

जो

प्रत्नतत्त्व के परामर्श में

अविश्रान्त श्रम

कर रहे हैं

उन्हीं

गुरुभक्तिपरायण

इतिहासतत्त्वमहोदधि-उपाध्यायजी

श्रीइन्द्रविजयजी महाराज के

करकमल में

भक्तिपूर्वक

समर्पण

करता हूं।

इतिहासतत्त्वमहोदधि उपाध्यायजी

श्रीइन्द्रविजयजी महाराज.

निवेदन।

महात्मापुरुषों के जीवनवृत्तान्त संसार में कितना लाभ कर सकते हैं, और ऐसे जीवनवृत्तान्तों के प्रकट करने की कितनी आवश्यकता है? इस बात के समझाने की कुछ भी जरूरत नहीं है। जिस पवित्र आर्यभूमी में ऐसे ऐसे अनेकों ऋषि-महर्षि-महात्मा हो गये हैं, जिनके जीवनवृत्तान्तों से आज भी भारतीय प्राचीन इतिहास, संसार के समस्त इतिहासों में प्रधानत्व को प्राप्त कर रहा है; उसी वीरप्रसू आर्यभूमी में अब भी ऐसे ऐसे महात्मा मौजूद हैं, कि, जिनसे भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास, साहित्य और आर्यत्व के गौरव की रक्षा हो रही है। सुप्रसिद्ध शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरि भी, उन महात्माओं में से एक हैं। एक साधारण स्थिति में उत्पन्न हो करके, जिन्होंने अकल्पनीय और असाधारण कार्यों को कर दिखलाये हैं, इसका कारण, उनके पुण्य की प्रबलता के सिवाय और क्या हो सकता है? साधारण स्थिति में उत्पन्न होकर प्रायः निरक्षरावस्था में ही साधु हो जाना, बड़ी अवस्था में ज्ञानाभ्यास करना, संसार की वासनाओं से सर्वथा दूर रह कर साधुधर्म को उत्तमरीत्या पालन करना, बड़े बड़े अकथनीय कष्टों का सामना करके भी 'परोपकाराय सतां विभूतयः' इस ऋषिवाक्य के चरितार्थ करने के लिये दूर देशान्तरों में विचरना और किसी भी धर्म पर आक्षेप-विक्षेप नहीं करते हुए समस्त जनसमाज को समानभाव से उनके कल्याण का ही मार्ग दिखलाना—ये सारी बातें जैसे आप के चरित्र में मनुष्यमात्र को विचारणीय—आदर्शभूत हैं, वैसे ही आपकी साहित्य-सेवा भी जैनसाधुओं के लिये ही नहीं, परन्तु समस्त साधुओं के लिये अनुकरणीय ही है। संक्षेप से कहा जाय, तो आपके जीवन-वृत्तान्त की एक एक बात में बड़ा महत्त्व रहा हुआ है। मनुष्यजीवन में साधुवृत्त को धारण करके क्या करना चा-

हिये ? अथवा साधुओं के क्या कर्त्तव्य होने चाहियें, इनके जानने के लिये यह 'आदर्श-साधु' अथवा 'श्रीविजयधर्मसूरि-जीवनवृत्त' सचमुच आदर्श समान ही है। इस बात को प्रत्येक मनुष्य स्वीकार किये विना नहीं रह सकेगा।

आपने भारतवर्ष में ही नहीं, परन्तु यूरप आदि पाश्चात्य देशों में भी जो प्रसिद्धि पाई है. इसका खास कारण अगर कोई है, तो आपका 'साधुकर्त्तव्यपालन' ही है। और इसी से तो 'माडर्नरीव्यु' [अंगरेजी] 'सरस्वती' [हिन्दी], 'वाणी' [बङ्गाली] आदि भारतवर्ष के, तथा एशीयाटिक सोसाइटी ऑफ पेरिस के 'त्रैमासिक', एवं एशीयाटिक सोसाइटी ऑफ इटालियन के 'त्रैमासिक' वगैरह प्रसिद्ध पत्रों में तथा सिंहली, अंगरेजी एवं गुजराती भाषाओं में आपके जीवनवृत्तान्त पृथक् पृथक् भी छप चुके हैं। परन्तु, वे सभी संक्षिप्त होने से, आपके विस्तृत जीवन-चरित्र की बहुत आवश्यकता थी। इसकी पूर्त्ति, आचार्यश्री के ही शिष्य मुनिराज श्रीविद्याविजयजी ने की है। इसको देख प्रत्येक मनुष्य हर्षित हुए विना नहीं रह सकेगा। इसके साथ ही साथ हम यह भी कहना नहीं भूलेंगे कि, जिनके जीवन की एक एक बात मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जानेवाली है, ऐसे एक परम प्रतापी, पवित्र आचार्यश्री के जीवनचरित्र को छपवाने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ, इसके लिये हम अपना अहोभाग्य ही समझते हैं।

हम आशा करते हैं कि—हमारे सहृदय पाठक, इस आदर्श-साधु [जीवन-वृत्तान्त] को पढ़ करके अपने जीवन को भी आदर्शभूत बनाने का अवश्य प्रयत्न करेंगे।

श्रीय० वि० ग्रंथमाला आफिस
हेरिसरोड-भावनगर।
फाल्गुन वदी ५ वीरसं० २४४४ } प्रकाशक

॥ आभार-पत्र ॥

शासनप्रेमी, दानवीर सेठ कस्तूरचन्दजी !

मु० खीवाखदी ।

आपने निजशक्तिसे व्यापारद्वारा लक्ष्मीकी प्राप्ति की है। इतना ही नहीं, परन्तु उस लक्ष्मी से शासन-प्रभावना और ज्ञान-प्रचार के कार्य्यों में महान् लाभ उठाया है और उठाते ही हैं। आपके किये हुए, उद्यापन, संघ और अन्यान्य कार्य, जैसे आपकी कीर्त्ति-लता को चारों ओर फैला रहे हैं, वैसे ही आपकी ज्ञान-प्रचार की उदारता सचमुच आपके सुयश को फैला रही है। उपर्युक्त कार्यों के सिवाय आपने इस 'आदर्श-साधु' के छपवाने में उपाध्यायजी श्रीइन्द्र-विजयजी महाराजके उपदेशसे जो सहायता की है, वह भी आपको अपूर्वलाभ प्राप्त कराने में कारणभूत ही है। आपकी सहायता के लिये हम आभार प्रदर्शित करते हैं, और आशा करते हैं कि इसी तरह हमारी ग्रन्थमाला को आप निरन्तर सहायता करते ही रहेंगे।

प्रकाशक.

॥ श्रीः ॥

परमगुरुश्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः ।

आदर्श-साधु ।

जन्म तथा दीक्षा

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे ।
साधवो नहि सर्वत्र चन्दनं न वने वने ॥ १ ॥

नीतिकार का यह कथन सर्वथा सत्य ही है । साधु लोग—महात्मा लोग सर्वत्र नहीं होते । महात्मा वे ही हैं जिनके जीवन निर्मल हों । महात्मा—साधु वे ही हैं जिन्हों में दूसरे जीवोंकी अपेक्षा मोहादिक न्यून हुए हों । और महात्मा वे हैं जो समाजके—धर्मके उद्धार में अपने जीवनकी सार्थकता समझते हों । ऐसे महात्मा—साधु संसारमें बहुत कम होते हैं । ऐसे महात्माओं के जीवन की प्रभाका प्रकाश, समाजको उच्च मार्गमें ले जाता है, उत्तम विचारोंको फैलाता है और उत्तमोत्तम कार्यों में अनुकरणीय हो जाता है ।

इस बातको तो सब समझते ही हैं कि—मनुष्यों की स्थिति निरन्तर एकही प्रकार की नहीं रहती । हर एक मनुष्य क्रमशः आगे बढ़ता है । और यावत् जगत् में पूजनीय पदको प्राप्त होता है । जिस हेमचन्द्राचार्यकी विद्वत्ताकी तारीफ, एतद्देशीय तथा पाश्चात्य समस्त विद्वद्समाज कर रहा है, जिस हेमचन्द्राचार्य ने अपने जीवनमें साढ़े तीन क्रोड़ श्लोकोंकी रचना की है, जिस हेमचन्द्राचार्यने कुमारपाळ को जैनी बनाकर १८ देशमें अहिंसा का प्रचार करवाया था, और जिस हेमचन्द्राचार्यने कलिकाल सर्वज्ञ का बिरुद प्राप्त किया था, वे भी एक साधारण कुटुंबमें

ही उत्पन्न हुए थे । वे जैसे अपने पुरुषार्थ से धीरे धीरे आगे बढ़े थे, वैसे ही हर एक मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अपने जीवनको निर्मल बना सकता है—महात्मा बन सकता है और यावत् परमात्मा भी बन सकता है।

जिस महात्माके जीवन-रेखाका यहाँ वर्णन किया जायगा, वह भी एक साधारण स्थिति से प्रारंभ होता है । सुप्रसिद्ध शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्री **विजयधर्मसूरिश्वरजी**, संसारावस्थामें काठियावाडान्तर्गत **महुवा** के वीसाश्रीमाली वैश्य थे । आपका नाम था **मूलचन्द्र** और पिताका नाम था **रामचन्द्र** सा आपने 'महुवा' के शामवच्छा के सुप्रसिद्ध कुल में रामचन्द्रसेठके वहाँ **कमलादेवी** माता से सं० १९२४ में जन्म धारण किया।

रामचन्द्रसेठके तीन पुत्र और चार कन्याएं थीं । पुत्रोंमें मूलचन्द्र छोटे थे । आपका कुटुंब बहुत विस्तीर्ण था । इसलिये आपकी बाल्यावस्था आनन्दमें व्यतीत हुई । आपकी बाल्यावस्थाकी हास्य प्रकृतिने-विनोदी स्वभावने अपने कुटुंबके समस्त मनुष्योंका असाधारण प्रेम प्राप्त कर लिया । इस प्रेमकी पराकाष्टा यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि— इस अवस्था में आप पर व्यावहारिक शिक्षाके लिये जो दबाव रहना चाहिये था, वह किसी की तरफसे नहीं रहा । परिणाम यह हुआ कि ९—१० वर्षकी उम्र हुई, इतने समयमें तो आप बडी मुश्किलसे अक्षरोंको पहचानने लगे । हमेशा जंगलोंमें जाना, वृक्षोंपर चढना, खेलना-कूदना, मारना-मारखाना येही आपके दिन कृत्य थे । ऐसी अवस्थामें शालामें न भेजवा कर, अपने पास दुकान पर बैठानाही आपके पिताजीने उचित समझा। पिताजी के पास बैठे रहने से यद्यपि पुस्तकादि पढने की योग्यता तो आपने बहुत कालमें थोडीही प्राप्त की परन्तु व्यावहारिक ज्ञान, समयकी अपेक्षा से बहुत कुछ प्राप्तकर लिया । यहाँ तक कि पन्द्रह वर्षकी उम्रमें आप पिताजी से गुप्त व्यापार भी करने लगे । यह व्यापार और कोई नहीं, जिसने हजारों मनुष्योंके दीवाले निकलवाए हैं, और जिसने लाखों मनुष्योंको भारत वर्षमें भिखमंगे बना दिए हैं उसी सट्टेका । आपके मध्य जीवनके प्रारंभमें सट्टा करना और जूआ खेलना ये दो प्रधान कर्तव्य शुरु हुए, जिन दोनों कार्योंकी तरफ सज्जन लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं—उनको तुच्छ समझते हैं।

संसारमें यह नियम है कि—ज्यों २ अयोग्य कारणोंका स्वीकार होता है, त्यों २ वैसेही कार्योंका प्रबंध उपस्थित होता है। इस नियमानुसार सट्टेके व्यापारमें एक साथ द्रव्य खो देने से, जो आफतें आ पड़ती हैं, वे चोरी वगैरह को सिखाती हैं। और कदाचित् लक्ष्मी मिल भी जाती है, तो वह उद्धतता तथा अभिमानादि दुर्गुणोंका निवास कराती है। किसी भांति भी यह व्यापार लाभकारक तो है ही नहीं। मूलचन्दको भी इस बातका अनुभव अच्छी तरह हुआ। यहाँ तक कि इस आदतसे आप अपने कुटुंबको भी अप्रिय हुए। इसमें कारण यह हुआ:—

'एकदिन जूआ खेलने गये, वहाँ अपने पास जो रूपये थे, वे सब हार गये। इतनाही नहीं, परन्तु आपने एक दो आभूषण पहने थे, वे भी किसी के वहाँ रखकर, उसपर लिये हुए रूपये भी हार गये। जब यह बात आपके भाई तथा पिता ने सुनली, तब घरवालों ने मूलचन्द का बहुत ही तिरस्कार किया।

"संसार स्वार्थी है" यह सूत्र मूलचन्दके मस्तिष्कमें आज प्रकट हुआ। जो माता-पिता पुत्रके लिये प्राण देनेकी बातें करते हैं, वेही माता-पिता द्रव्यकेलिये पुत्रकी निंदा करते हैं, बल्कि घरसेभी निकाल देते हैं। जो पुत्र, माता-पिताके असाधारण असीम उपकारसे दबाहुआ होता है, वही पुत्र अपने तुच्छ स्वार्थभंगसे अपने जरूरी कर्तव्योंको भी भूल जाता है।

मूलचन्द्रको अपने बड़ोंकी तरफसे जो तिरस्कार हुआ, वह यद्यपि असह्य था, परन्तु पिताके प्रति अपना क्या कर्तव्य है, इसबातको आपने हृदयसे जरासा भी नहीं हटाया। हाँ, इतना जरूर हुआ कि–आजसे भविष्यसुखके विचारका 'श्रीगणेशाय नमः' हुआ। अबसे आपको प्रतिक्षण यह विचार होने लगा कि—"लक्ष्मी सर्वथा चंचल है, वह किसीके साथ न रही, न रहेगी। अनेक प्रकारके कष्टोंको सहन करके सट्टा और जूआ खेलते हैं, परन्तु लाख मिले नहीं, और लक्षाधिपति हुए नहीं। और जितनी यह सब संसारकी जाल देखनेमें आती है, वह सब प्रपंची ही है। इससे तो 'आत्माका कल्याण करना' यही सबसे उत्तम है।" हमेशा ऐसे विचारोंको करतेहुए, धीरे धीरे आप साधु-संतोंके पास भी

जाने आने लगे। जिससे शास्त्रश्रवण और सद्बोध से आपके विचार भी दृढ हुए।

संसारसे विरक्तभाव होनेपरभी, जिम्मेवारी को भूलजाना, यह आप वड़ा भारी कलंक समझते थे। और इसीसे हारे हुए द्रव्यको पुनः प्राप्त करके, जहाँतक पिताजीको न दिया जाय, वहाँतक संसारके संबंध को छोड़नेसे 'असमर्थो भवेत् साधुः' का कलंक लग जानेका आपको वड़ा भारी भय था। ऐसा होने पर भी आप ऐसा वड़ा भारी व्यापार भी नहीं कर सकते थे, कि जिसमें यकायक डेढ़सौ दोसौ रुपये पैदा करसकें। क्योंकि–आपके पासमें पैसेही नहीं थे। और न घर से मिल सकते थे।

जव कोई उपाय नहीं सूझा, तव आपने एक हलवाई (कंदोई) के वहाँ काम करना शुरू किया, जहाँसे आपको रोज आठआने–वारह आने मिलने लगे। थोड़ेही दिनोंमें आपके पास छ रुपये इकट्ठे हुए।

अभ्यास, यह एक ऐसी आदत है कि-वह खराव हो, चाहे अच्छी, परन्तु वह यकायक नहीं छूट सकती। कुव्यसनसे अनेकानेक दुःख प्रसंग, और तन–मन–धनका प्रत्यक्ष नाश देखने पर भी मनुष्य उसके मोहक पाशसे सहसा नहीं छूट सकता।

मूलचन्द के पास वड़े परिश्रमसे जो ६ रुपये इकट्ठे हुए थे, वे भी आपने सट्टे में ही लगा दिये। परन्तु होनहार अच्छी थी, जिससे आपने इसमें १९०) डेढ़सौ रुपये पैदा किये। इन रुपयों से आप अपनी जिम्मेवारी से मुक्त हुए और अपने पिताजीको भी संतुष्ट किया।

यह कसौटीका सच्चा प्रसंग था। क्योंकि-जो रुपये पैदा किये थे, उससे अधिक व्यापार करके मायाकी मोहजालमें और भी फँस सकते थे, और दूसरी ओर जिम्मेवारी से मुक्त होकर वैराग्यवृत्तिको पुष्ट करनेका भी सानुकूल प्रसंग था। इन दोनों पक्षों में वैराग्यवृत्तिको पुष्ट करना, यही आपने उचित समझा।

मूलचन्द समझते थे कि—मोहजाल ऐसी विकट है कि अनेक क्लेशोंसे भी वियोगका प्रसंग वहुत कठिन है। अनेकानेक कष्टोंसे दुःखी होकर आत्मघात करनेवालभी आत्मा और देहके वियोगके अन्तिमप्रसंग

में पश्चात्ताप करता है। तथा मृत्युको समीप लाने वाला भी पीछेसे रुदन करता है, वैसे धर्म-प्रिय पिताजीको भी दीक्षा की बात अरुचिकर होगी' ऐसा विचार करके गुप्त रीत्या आप भावनगर गये । और जगत्पूज्य शान्तमूर्त्ति श्रीमान् वृद्धिचन्द्रजी महाराज के पास जाकर उपदेश श्रवण करने को बैठे।

वैरागी पुरुषों के हृदयके भाव स्पष्ट मालूम होजाते हैं। आनेका कारण विना पूछेही, हृदयके भावको जानकरके पूज्य श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराजने, सामान्य उपदेश देते हुए:—

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ ! भीतं मुञ्चति नो यमः ।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि ॥ १ ॥

इस श्लोक की व्याख्या में आगे चलकर कहा:—

"यह मनुष्य जन्म पुनः पुनः प्राप्त नहीं होता है। बड़े पुण्य के उदय से ही यह चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ है। अब इसका ठीक उपयोग करना, यह बुद्धिमानों का कार्य है। जैसे अनादिकाल से सूर्य का उदय और अस्त हुआ करता है; वैसेही यह जीव-आत्मा भी इस संसार चक्रमें अनादि कालसे जन्म और मृत्यु किया करता है। किन्तु एकदफे मृत्यु ऐसी होनी चाहिये कि जिससे फिर कभी मृत्यु होनेका समय न आवे। और यह बात तो निश्चय है कि-जीव अकेला आया है और अकेला जाने वाला है। माता-पिता-पुत्र-स्त्री तथा सारा कुटुंब पक्षीके मेलेकी तरह इकट्ठे हुए हैं। जब अपना अपना समय पूरा होगा, तब एकके पीछे एक चले जायेंगे। इनमें मोह करना किस पर और नहीं करना किसपर। आयुष्य जलके प्रवाहकी तरह बड़ी शीघ्रतासे चला जारहा है। मनुष्य जानता है कि-मैं बड़ा होता हूँ, परन्तु यह नहीं जानता है कि-आयुष्य कम हो रही है। 'शरीरं रोगमन्दिरम्' शरीर रोगोंका घर है। ऐसी प्रत्यक्ष दिखाती हुई कायाकी माया में मोह रखना यह मनुष्योंके लिये उचित नहीं है। मनुष्य अज्ञान दशासे यह समझता है—मानता है कि-'यह घर मेरा' 'यह स्त्री मेरी' 'यह पुत्र मेरा' 'यह पिता मेरा' और 'यह माता मेरी'। अगर मनुष्य तत्त्व दृष्टिसे विचारे,

तो उसको मालूम हो जाय कि—यह घर नहीं है, परन्तु कैदखाना है, आत्मा का सच्चा घर, सच्ची स्त्री, सच्चा पुत्र और सच्चे माता पिता तो और हीं हैं। इन सांसारिक मनुष्योंके साथमें जो संवन्ध है वह सिर्फ दुःखको ही देने वाला है। क्योंकि—'स्नेहमूलानि दुःखानि' यह आर्ष वचन है। अतएव जैसे बने वैसे इस संसार को 'असार' और कुटुंबको संसारकी 'जाल' समझकर संसार से मुक्त होकर—पंचमहाव्रतोंको पालन करने चाहियें और यथाशक्ति ज्ञान-ध्यान-तपस्यादि धर्मक्रियाओं में समय व्यतीत करना चाहिये। इस शरीरका विश्वास किसीको है ही नहीं कि-यह कहाँ तक चलेगा ? । अतएव शुभकार्य में जितनी शीघ्रता की जाय, उतनी ही थोड़ी है।"

पूज्यपाद श्रीवृद्धिचन्द्रजीमहाराजकी शान्तमुद्राके दर्शन होते ही मूल-चन्द्रके हृदय पटपर एक और प्रभाव पड़ा था, उसमें भी फिर जब आप की मधुर देशना सुनी, तब तो फिर कहना ही क्या ? । जैसे खेड़ीहुई भूमिमें वर्षा अनुकूल होती है, वैसे मूलचन्द्रके वैराग्यको इस उपदेशने बहुत ही पुष्ट बनाया। मूलचन्द्रने अपना आन्तरिक विचार [दीक्षालेने का] अभी तक यद्यपि प्रकाश नहीं कियाथा; तथापि गुरु महाराजकी देशना अपने विचार के अनुकूल ही हुई। इस बात पर मूलचन्द्रको बहुत आश्चर्य हुआ। अब आपने अपने विचार को गुरुवर्य श्रीवृद्धिचंद्र जी महाराजके समीप प्रकाशित किया—दीक्षादेनेके लिये विनति की।

पूज्य श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज, दीक्षा के लिये पात्रकी योग्यता बहुत अच्छी तरह समझते थे। 'राग' वस्तुको नहीं समझकर, उछलते बालक 'विरागी' कहलानेका आडंबर बहुत करते हैं, यह भी आप जानते थे। मूलचन्द्र ऐसे आडंबरी नहीं थे, परन्तु इनको सच्चा वैराग्य हुआ था, यह बात गुरुवर्य, इनकी आकृति से अच्छी तरह जान गये थे। तिस पर भी आपने यही फरमाया कि-"यदि दीक्षा लेनी ही है, तो अपने माता-पिता (संरक्षक) की आज्ञा ले आईये।"

शिष्यके लोभमें योग्यायोग्य की परीक्षा नहीं कर, यकायक जो आया सो मूँडा, ऐसा करनेवाले साधुओंके लिये, उपर्युक्त कार्य खास अनुकरणीय है।

मूलचन्द्र को 'उभयतः पाशारज्जु' सा होगया। एक ओर तीव्र वैराग्य दीक्षाके लिये शीघ्रता कर रहा था, दूसरी ओर गुरु महाराज की आज्ञा घर जाकर माता-पिता की अनुमति ले आनेकी हुई अत एव 'अब क्या होगा?' 'कैसे आज्ञा देंगे' इत्यादि बातोंका विचार इनको होने लगा। साथ साथ आपको यह भी विश्वास होगया कि गुरुवर्य, सिवाय माता-पिता की आज्ञाके दीक्षा की भिक्षा नहीं देगें। "अस्तु, जो कुछ हो, अब एक दफे घर जाकर आज्ञा तो मांगनी ही चाहिये।" ऐसा विचारकर आप भावनगर से महुवे गये। और बड़े नम्र भाव से दीक्षा के लिये आज्ञा मांगी। मूलचन्द्र के पिता सेठ रामचन्द्र इस समय प्रज्ञाचक्षु थे। आपने अपने आंतर्चक्षुसे आत्महितका शुद्ध मार्ग समझ लिया, परन्तु माताकी तरफ से, अकथनीय पुत्र प्रेमके कारण आज्ञा मिलने में बहुत श्रम उठाना पड़ा। माता ने दीक्षा लेने से रोकने के लिये कुछ कमी न रक्खी, परन्तु मूलचन्द्र अपने विचार में बराबर अटल रहे। रोना पीटना तथा ताडन तर्जन करनां, इत्यादि अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग, माता ने और कौटुंबिक लोगों ने भी बहुत कुछ किये, परन्तु मूलचन्द्र ने सच्चा हठयोग पकड़ लिया, जिससे उन्होंका सारा परिश्रम व्यर्थ हुआ।

आज कल के मनुष्योंका मानसिक बल प्रायः इतना कमजोर होता है, कि जिसके कारण, मनुष्य अपने कार्योंमें जैसी चाहिये, वैसी सफलता प्राप्त नहीं करते। परन्तु और कुछ न बने, तो अच्छे कार्योंके लिये मनुष्य अपनी बातको पकड़ रक्खे, यह भी सफलता होनेका एक साधन है। मूलचन्द्र ने अपनी बातको इस कदर पकड़ रक्खी, कि जिससे माता-पिता को आज्ञा देनी ही पड़ी।

जो साधु लोग शिष्य के लोभ से साधु होने के लिये आये हुए को नसा भगाकर विना परीक्षा किये ही साधु बना डालते हैं, उन मुनिराजों को यहां पर एक बात समझने की है कि जो मनुष्य सच्चे वैराग्य से दीक्षा लेने को आया है, और जो अपने विचार में दृढ है, उसको नसाने भगाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने विचार में दृढ होने के कारण किसी न किसी उपाय से अपने संरक्षक की आज्ञा लेगा

ही। और जिसको वैराग्य नहीं है; और जो अपने विचारों में दृढ नहीं है, उस मनुष्य को छिपा कर या नसा-भगाकर भी दीक्षा देने से क्या लाभ ? । वह अपना कल्याण क्या कर सकेगा ? । वह दूसरों का उद्धार क्या कर सकेगा ? । दीक्षा लेना अथवा यों कहाजाय कि-संसार की जंजीरों को तोड़ना सहज कार्य नहीं है । इसमें जो सबको समझा कर-सबको प्रसन्न कर दीक्षा ग्रहण करता है, वह उत्तरोत्तर आत्मोद्धार-समाजोद्धार और धर्मोद्धार करने में समर्थ हो सकता है ।

मूलचन्द्र को माता-पिता दोनों की तरफ से आज्ञा मिल गई । जो क्रोध-मान-माया--लोभ और मोहादि कषाययुक्त संसार को छोड़ देते हैं, वेही शरीर में गुप्त रहे हुए कषाय, दीक्षित अवस्था में--साधु अवस्था में भी प्रकट हो सकते हैं । और उनके प्रकाश से दीक्षा का मूल हेतु साध्य होना मुश्किल हो जाता है । अत एव मूलचन्द्र की दृढता को और मजबूत करने के लिये इनके पिता रामचन्द्र ने ज्ञाति के प्रधान पुरुषों के समक्ष आज्ञा देते हुए, 'गुरु आज्ञा का पालन' यही साधु जीवन का मूल मंत्र है, इस बातपर बहुत शिक्षा दी । क्योंकि--पूज्य की आज्ञा का पालन, वही कर्तव्य है, पूज्य की इच्छा के अनुकूल आचरण, वही सेवा है और पूज्य की सेवा, वही स्वात्महित का मार्ग है । ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

माता-पिता की आज्ञा मिलते ही आप भावनगर आए, और गुरु महाराज के चरणार्विंद में नमस्कार कर आज्ञा मिलने का शुभ समाचार सुनाया । अब क्या था ? गुरुमहाराज ने सं० १९४३ ज्येष्ठ वदि ५ के दिन दीक्षा दी और आपका नाम धर्मविजय रक्खा । भावनगर के जैनों-ने हजारों रुपये व्यय कर बड़े समारोह से दीक्षोत्सव भी किया ।

गुरुभक्ति और विद्याध्ययन

अब मूलचंद्र, गृहस्थावस्था को छोड़कर साधु हुए। आगार तज अनगार हुए। आपने पंचमहाव्रत को धारण कर अविराति भाव का उच्छेद किया।

साधुजीवन, यह एक तटस्थजीवन है। राग दिशा का त्याग, मोह-का पराजय तथा मनोनिग्रह में गमन यही साधुजीवन है। समस्त प्रकार से परिग्रह का त्याग करना, ब्रह्मचर्यपालन करना, रेल-इक्का-गाड़ी किसी वाहन में नहीं बैठना, जूता-छाता नहीं रखना, केश का लुंचन करना, निर्दोषवृत्ति से निर्वाह करना तथा ज्ञान-ध्यान और तपस्या में मस्त रहना, इत्यादि साधु जीवन की प्रधान क्रियाएं हैं। इन महान् गुणों की प्रभा इतनी निर्मल और असरकारक है कि इनके तेजसे अनेकों उपकार हो सकते हैं। और अनेकों आत्माएं संसार से पार हो जातीं हैं।

दीक्षित अवस्था में खास कर्तव्य ज्ञान-ध्यान ही था। इस अवस्था तक पाठक देख गये हैं कि आपको पढना लिखना महान् भारभूत लगता था। और इस ही कारण से आप 'भावनगर' इतने पांच अक्षर भी शुद्ध शुद्ध नहीं लिख सकते थे। जिस समय आपने दीक्षा ली, उस समय आपने यही विचार किया था कि—बुद्धि जड़ होने के कारण ज्ञान तो प्राप्त हो सकेगा नहीं, परन्तु गुरुदेव की सेवा करेंगे और पानी तथा भिक्षा लाकर मुनिराजों की भक्ति करेंगे। और इसी उद्देशानुसार ही साधु अवस्था में आप गुरुसेवा और साधुभक्ति में ही अपने समय को व्यतीत करने लगे।

आपके गुरुजी ज्ञान के बड़े रागी थे। अपने शिष्यों को ज्ञान पढ़ाने में आप अधिक ध्यान दिया करते थे। इससे यद्यपि आप को स्वयं ज्ञान की तर्फ इतनी रुचि नहीं थी, परन्तु गुरु की प्रेरणा से और अन्यसाधुओं को पढ़ते हुए देख, आप भी अपने बचे-बचाये समय में प्रतिक्रमण के सूत्र गोखा करते थे। संस्कार के अभाव से जड़ प्राय:

सो गया हुआ मगज़ भी नित्य के अभ्यास से जागृत हुआ । और डेढ़ साल, जितने समय में आप सिर्फ दो ही प्रतिक्रमण कंठस्थ कर सके ।

जिन दो प्रतिक्रमणों के कंठस्थ करने के लिये बुद्धिमान मनुष्य को डेढ़ महीने का समय भी बहुत हो जाता है। उसी दो प्रतिक्रमणों के कंठस्थ करने में चरित्र नायकजी को डेढ़ साल जितना समय व्यतीत हुआ, बस यही आप की उस समय की बुद्धि का नमूना है। अस्तु !

जहाँ लाखों रुपयों का क्रय-विक्रय होता हो, वहाँ पांच-पचीस का शब्द निर्जीव मालूम होता है । इस नियम से तो श्रीमान् का उपर्युक्त परिश्रम किसी हिसाब में नहीं, परन्तु एक पैसा भी नहीं देखने वाले को पाँच-पचीस रुपये का मिलना, अपूर्व आनंद और उत्साह का कारण होता है । इस नियमानुसार बिल्कुल शुष्क हुए मगज़ में दो प्रतिक्रमण जितना अभ्यास जम गया, यही आशा और उत्साह का कारण था। आगे बढ़ने के लिये-उत्साही होने के लिये यह आशा का प्रथम किरण था। हृदय के विश्वास का आश्वासन था।

इतने से अब इनको विश्वास हुआ कि-'गुरु भक्ति पूर्वक उद्यम करने से सब कुछ साध्य होना ही चाहिये'। और उसी उत्साह के अङ्कुर को महान् वृक्षरूप देखने के लिये, जनसमाज भाग्यशाली हुआ है। कार्य करनेवाले के दृढ विश्वास और सख्त परिश्रम के फल का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इस समय आपके मण्डल में कई साधु व्याकरण, कुछ लोग न्याय एवं कतिपय साधु साहित्य का अभ्यास भी करते थे । इन्हीं को देख करके आपके मन में भी यह भावना हुई कि-' मैं भी व्याकरण का अभ्यास करूं।' जिस मित्र साधुके समीप अपना यह विचार उपस्थित करते थे, वह सिवाय आपकी बात पर हँसने के और कुछ नहीं कहता था। बल्कि कई साधु लोग तो 'अब धर्मविजय शासन की उन्नति कर डालेगा' ऐसे मार्मिक वाक्यों से भी आप पर कटाक्ष करते थे। परन्तु इतने दिनों की गुरु भक्ति से-विनय से आपको यह दृढ़ विश्वास हुआ था कि-कैसा भी असाध्य कार्य क्यों न हो, मनुष्य गुरुकृपा से गुरु भक्ति से साध्य बना सकता है।

यद्यपि और लोगों ने—आपके सहचारियों ने आप को हतोत्साह करने के प्रयत्न किये थे, परन्तु आपका उत्साह जरासा भी न्यून नहीं हुआ था। निदान आपने डरते डरते यह विचार गुरुवर्य के सामने उपस्थित भी कर दिया। गुरुश्री समझते थे कि—" चाहे मनुष्य कैसी भी स्थूल बुद्धिवाला क्यों न हो, परन्तु यदि वह निरंतर परिश्रम करता है, तो किसी न किसी समय तीक्ष्णबुद्धि वालों से भी आगे बढ़ जाता है।' और इसीसे गुरुश्रीने आपको सारस्वत—चंद्रिका पढ़ने का प्रबन्ध भी करवा दिया।

ज्यों ज्यों आप अपने अभ्यास में आगे बढ़ते गये त्यों त्यों आपके उत्साह में भी कोई और ही प्रकार की वृद्धि होने लगी। आपके अन्तः-करण में नये नये विचारों की तरङ्गें उछलने लगीं। 'हजारों मनुष्यों की सभा में व्याख्यान दे करके लोगों को उपदेश दूँ'। 'गाँव गाँव पाठशालाएं स्थापन करवाऊं' 'पुस्तकभंडार खुलवाऊं' इत्यादि विचार भी आपके मन में बहुत होने लगे।

'भावनगर हाईस्कूल' के संस्कृत अध्यापक श्रीयुत नर्मदाशंकर शास्त्री 'जैनसाहित्यनी उत्तमता' नामक अपने एक लेख में लिखते हैं—

"जे महात्मा अे भारतवर्षनी महादेवी सरस्वतीनी राज्य-धानी काशी नगरीमां श्रीयशोविजय पाठशालानी स्थापना करीने ते ब्रह्मीभूत सूरिवरनी विस्मृत थयेली उज्ज्वल कीर्तिने पाछी सतेज करीछे, जे महात्माना प्रसादथी पवित्र गंगा नदीना तट ऊपर आर्हत साहित्यनी जय घोषणा थई रही छे, अने जे महात्मानी योजनाथी आजे आपणे जैनसाहित्यनी उन्नतिनो पायो रोपवाने एकठा थया छीए, ते महात्मा विजयधर्मसूरिना अध्ययननो आरंभ पण मारे हाथ थयेलो हतो अने तेज वखते तेमनी मनोवृत्ति अने बुद्धिमां आ वखते प्रत्यक्ष देखातां भविष्यनां शुभ चिह्न हुं यथा मति जोई शक्यो हतो।"

इस पर से पाठक देख सकते हैं कि—प्रारंभसे ही आपके मन में उच्च भावनाएं थीं। अध्ययन करने के साथ गुरु सेवाका लाभ भी बराबर लिया ही करते थे। रात्रि के ग्यारह २ बारह २ बजे तक गुरु महाराज की भक्ति करते थे, और उस समय में आवृत्ति भी किया करते थे। आप को पढ़ने में इतना प्रेम हो गया था कि-भिक्षा को जाते-पानी लेने को जाते या कोई भी कार्य को करते, परन्तु उस समय में भी आप अपने पाठको याद करते थे। परिणाम में आपने थोड़े ही समय में बहुत अच्छा अभ्यास कर लिया, और गुरु महाराज के पास जैन सूत्रों का भी अध्ययन करना प्रारंभ कर दिया।

आपको एक और बात पर भी प्रेम था। गुरुवर्य श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज के पास में जिस समय कोई जिज्ञासु या वादी प्रश्नोत्तर करने को आया करता था, उस समय आप सब कार्यों को छोड़कर उस चर्चा वाद को सुनने के लिये बैठ जाते थे। और इससे आपमें तार्किक शक्ति भी ऐसी विलक्षण हो गई थी कि थोडे पढ़े हुए होने पर भी आप लोगों को निरुत्तर कर देते थे।

आपको संस्कृत का थोडासा ज्ञान हुआ, उस समय से आपको व्याख्यान करने की बडी उत्कंठा होने लगी। एक दिन के प्रसंग की बात है। आपके गुरुवर्य श्रीवृद्धिचन्द्र श्रीमहाराज ने, आपके एक गुरु भाई से कहा-"जाओ आज तुम व्याख्यान वांचो" उस साधु ने कहा-'महाराज, धर्मविजयजी से व्याख्यान करवाइये।'

इस साधुजी के मन में यह था कि-धर्मविजयजी इतने पढ़े लिखे हैं नहीं और न कभी उन्होंने व्याख्यान ही किया है, तो फिर वे किस तरह व्याख्यान देंगे?। गुरुमहाराज ने उस समय आपको बुलाकर कहा—'कहो, आज व्याख्यान बांचोगे?' आपने कह दिया:—'गुरु कृपासे वांच लूंगा।' बस, कहना ही क्या था? गुरुमहाराज ने व्याख्यान करने को आज्ञा दे दी। आप व्याख्यान करने को बैठ गये। जिन्हों ने एक दिन भी व्याख्यान किसी सभा में नहीं दिया था, उनका यकायक सैकडों मनुष्यों की सभा में व्याख्यान करने को बैठ जाना, यह

कितना साहस का कार्य है, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। जिस समय आप इस प्राथमिक व्याख्यान को करते थे, उस समय आपके गुरुवर्य उपाश्रयके पिछले कमरे में बैठे हुए बराबर सुन रहे थे। और आपके व्याख्यान शैलीको सुनकर बहुत प्रसन्न होते थे। व्याख्यान करके जब आप गुरुवर्य के समीप गये, तब गुरुवर्य ने बडी प्रसन्नता के साथ व्याख्यान की प्रशंसा की। इससे आपके उत्साह में भी एक और ही प्रकार की वृद्धि हुई। व्याख्यान देने का आपके लिये यह प्रथम प्रसंग था।

आपके गुरुवर्य श्रीवृद्धिचंद्रजी महाराज इस जमाने के बडे भारी महात्मा पुरुष हुए हैं। श्रीबूटेरायजी महाराज के प्रसिद्ध पांच शिष्य हुए- १ गणि श्रीमुक्तिविजयजी (मूलचंद्रजी) महाराज २ श्रीवृद्धिचन्द्रजी (श्रीवृद्धिविजयजी) महाराज, ३ श्रीनीतिविजयजी महाराज, ४ श्रीखान्तिविजय जी महाराज तथा ५ श्रीआत्माराम जी (आनंदविजयजी) महाराज। आजकल जैन साधुओं का जो समुदाय है, वह प्रायः इन पांचों महात्माओं का ही है। ये पांचों महात्मा बडे विद्वान् और क्रिया कांड में भी बहुत कुशल थे। इनमें समस्त साधुओंकी सार सम्हाल करने का कार्य श्रीमूलचंद्रजी महाराज करते थे। आज के चरित्र नायक के गुरु श्रीवृद्धिचंद्रजी महाराज विद्वान् होने के उपरान्त ऐसे शान्त महात्मा थे कि—जिनके दर्शनमात्र से क्रूरमनुष्य भी शान्त हो जाते थे। श्रीनीतिविजयजी महाराज में औपदेशिक शक्ति बहुत प्रबल थी। आपके उपदेशका प्रभाव लोगों पर बहुत अच्छा पडता था। श्रीखान्तिविजय महाराज बडे भारी तपस्वी थे। तपस्या करने में आप ऐसे वीर थे, कि—तपस्या करने के समय आप अपने शरीर को कोई चीज नहीं समझते थे। और श्रीआत्मारामजी महाराज एक प्रसिद्ध वक्ता और लेखक भी थे।

इन पांचों गुरु भाइयों में बडा भारी गुण यह था कि वे आपस में बडे प्रेम-भाव से रहते थे। एक दूसरे की उन्नति देख करके वे कभी द्वेष धारण नहीं करते थे। ये पांचों गुरुभाई आपस के प्रेम से जैन

समाजमें हर एक प्रकार के सुधार कर सकते थे। आप लोगों में आपस में कितना प्रेम था, इसका एकही उदाहरण देख लीजिये :—

जिस समय श्रीआत्मारामजी महाराज को पालीताने में आचार्य पद प्राप्त हुआ, उस समय पालीताणे से आप भावनगर पधारे। भावनगर के उपाश्रय में जा करके पूज्यपाद श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज को जिस समय आप तीन प्रदक्षिणा दे करके वन्दना-नमस्कार करने लगे, उस समय श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराज ने कहा:—"आप वन्दना न कीजिये, क्योंकि अब आप आचार्य हुए हैं।" छोटे गुरुभाई के प्रति ये शब्द आपकी कितनी गम्भीरता और उदारता दिखलाते हैं, यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। छोटों की वात तो जाने दीजिये, वड़ों से भी नमस्कार करवाने के लिये रात दिन प्रपञ्च करनेवाले आज कल वहुत से मुनिराज दृष्टिगोचर होते हैं, लेकिन उन महामुनिराजों को उपर्युक्त शव्दों पर वहुत ध्यान देना चाहिये। भीख मांगने से वड़ाई नहीं मिलती, परन्तु अपने गाम्भीर्यादि गुणों से वड़ाई मिलती है। इस वात को समझने के लिये यह प्रसङ्ग वहुत उपयोगी है। पूज्यपाद वृद्धिचन्द्रजी महाराज के उपर्युक्त शव्द कहने पर श्रीमद् आत्मारामजी महाराज ने भी अपनी ऐसी ही सज्जनता दिखलाई। आत्मारामजी महाराजने प्रत्युत्तर में यही कहा—"महाराज मैं वनियों का आचार्य हूँ, आपका नहीं आप तो मेरे पूज्य ही हैं।" कैसी सज्जनता! कैसा प्रेम! कैसा पूज्यभाव!

चरित्रनायकजी के गुरु पूज्यपाद वृद्धिचन्द्रजी महाराज को सं. १९१४ की साल से संग्रहणी का भयङ्कर व्याधि हो गया था। और इस से आप से विहार नहीं हो सकता था। अतएव आप भावनगर में ही रहते थे। सं. १९४८ की साल में आपकी छाती में दर्द होना शुरू हुआ। यह दुष्ट दर्द ऐसा भयङ्कर शुरू हुआ कि जिस से आप के समस्त भक्तों को चिन्ता होने लगी। इस रोग से आपकी शारीरिक शक्ति वहुत क्षीण होने लगी। आपकी सेवा में कई साधु और गृहस्थ रहा करते थे। इनमें चरित्रनायकजी की भक्ति सव से अधिक प्रशंसनीय थी। आपने गुरु भक्ति से गुरु प्रेम को इतना आकर्षित कर लिया था कि इनके अभ्यास,

गुण तथा शक्ति से प्रसन्न होकर गुरुवर्यने अपने अन्तिम समय में साधु तथा गृहस्थ मण्डलके सामने कहा कि–"धर्मविजयको पंन्यास पद देना।" इन शब्दों की कीमत ही, आपके अभ्यास और गुरु प्रेम की कसौटी के लिये काफी है। इतना होने पर भी आप इन शब्दों से उन्मत्त न होकर गुरु सेवा में निरन्तर उत्साह के साथ रहा करते थे। बस, यही इनके भविष्योदय के चिह्न थे।

जैनसमाज तथा साधुमंडल गुरुवर्य की बिमारी से चिंताग्रस्त था। अनेक उपचार और यत्न करने पर भी सं० १९४९ वैशाखशुक्ला ७ के दिन पूज्य श्रीवृद्धिचंद्रजी महाराज स्वर्गवासी हुए।

काठियावाड गुजरात में विहार

दीक्षाली वहाँ से गुरुवर्य के अवसान पर्यन्त आपने कभी गुरुदेव से पृथक विहार नहीं किया था। सिर्फ एक साल (सं० १९४४ में) गुरुवर्य की आज्ञा से आवश्यकीय कारणवशात् अहमदाबाद में चातुर्मास किया था। इसके सिवाय प्रतिवर्ष आपने गुरुवर्य की सेवा में ही चातुर्मास किये थे। अब गुरुवर्य के स्वर्गवास होने से आपने भावनगर रहना उचित न समझा। आपने वहाँ से तुर्त विहार कर दिया, और उसी साल का चातुर्मास लींबड़ी में किया।

चरित्र नायकजी उस समय भी व्याख्यान बहुत प्रभावशाली देते थे। इसके साथ आपकी तार्किक शक्ति भी बहुत प्रशंसनीय थी। अतएव आपके व्याख्यान में जैनों के अतिरिक्त, हिन्दु मुसलमान भी आया करते थे।

इस चातुर्मास के अनन्तर वीरमगाम, कपडवणज, सादरी (मारवाड) तथा पारडी में अनुक्रमसे चातुर्मास किये। कपडवणज के चातुर्मास में आपने काशी के पंडित अंबादासजी के पास पहिले पहल न्याय शास्त्रका अभ्यास शुरू किया। सादरी (मारवाड) मारवाड में आपने चातुर्मास किया, तब राणकपुर के प्राचीन जैनतीर्थ में बहुत प्रतिकूलता थी, वह दूर करवाई। और पारडी के चातुर्मास में उपरियाला तीर्थका उद्धार करवाया।

मकान की दृढ़ता यही है कि—उसके जीर्ण अंशको रिपेर करके मजबूत किया जाय। लेकिन जैन लोग इस सिद्धान्त को भूल गये हैं, यह खेद का विषय है। सात क्षेत्रों में से जिस क्षेत्र में अधिक आवश्यकता हो, उसी क्षेत्र में द्रव्य व्यय करना चाहिये। परन्तु जैनलोग इस बातका विचार नहीं करके, प्रायः भेडियाधसान की नकल करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। एकने किसी कार्य में हजारों रुपये खरच कर उसकी पूर्ति की हो, तथापि उसके पीछे अनेक धनी हजारों रुपये खरच करने को उतारु हो जाते हैं। इससे जैनों के प्रतिवर्ष लाखों रुपये धार्मिक कार्यों में खर्च होते हुए भी परिणाम यह होता है कि—एक क्षेत्र (कार्य) बहुत किचड (कर्दम) होने से खराब होता है, और दूसरा सर्वथा शुष्क हो जाने से खराब हो जाता है। जिस समय में देव द्रव्यके दृढ करने की आवश्यकता थी, उस समय के उपदेश से जैनसमाज की वृत्ति मंदिर के कार्यों में द्रव्य लगाने की हुई। लेकिन यह प्रवृत्ति ज्यों कि त्यों चलती ही रही। इससे परिणाम यह हुआ कि, इस समय देवद्रव्य के नाम से कई स्थानों में हजारों नहीं बल्कि लाखों रुपये भंड़ार में पडे सड रहे हैं, जब दूसरी और ज्ञान-जीवदया वगैरह कार्यों के लिये उनके नेताओं को घर २ भिक्षा मांगते हुए भी द्रव्यप्राप्ति नहीं होती। और इससे इन कार्यों की आयु शीघ्र समाप्त हो जाती है।

बेशक, यह बात सत्य है कि—देवद्रव्य दूसरे कार्यों में नहीं लगा सकते, परन्तु यह हो सकता है कि—उदारता का प्रवाह, सूखे क्षेत्रों की तर्फ (जिन कार्यों में आवश्यकता हो) ले लिया जाय। ऐसा होने से सभी क्षेत्रों का उद्धार हो सकता है। लेकिन अधिक अफसोस की बात तो यह है कि—एक मंदिर में लाखों रुपये पडे हों, किन्तु दूसरे मंदिर गिर पडते होंगे, तौभी हमारे जैन लोग उसमें भी खरचते हुए हिचकचाते हैं। इस अज्ञानप्रणालिका के कारण से ही जैनजाती, साधनोंके विद्यमान रहते हुए भी पीछे रहती है—आगे नहीं बढ़ सकती।

यह विषय बहुत विचारणीय है। चरित्रनायक महाराजश्री का चित्त अब इस ओर आकर्षित हुआ। जैन जातिको अंधेरेमेंसे निकाल

कर जो क्षेत्र, द्रव्याभाव से सर्वथा सूख रहे थे, उनको सतेज करानेका प्रयत्न करने लगे।

उपरियाला तीर्थके (देवद्रव्य के) रुपये साधारण खाते में लगाकर लोगों ने धर्मशाला वगैरह बनाये थे। इधर मंदिर खाते में रुपये नहीं होनेके कारण तीर्थका उद्धार भी नहीं हो सकता था। और उसके व्यवस्थापक लोग उस कर्ज से छूट भी नहीं सकते थे। जब यह बात आपके जानने में आई, तब आपने मांडल-दसाडा-पाटडी बजाणा इन गांवों में उपदेश देकर उस देवद्रव्य को पूरा करवा दिया। और तीर्थ का उद्धार भी करवाया। साथ साथ इस तीर्थ के हमेशा के निर्वाह के लिये प्रति वर्ष फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के दिन मेला होनेकी प्रणालिका शुरु करवाई, जो कि आज तक भी चलती है।

तीर्थोद्धार के साथ ज्ञानप्रचार की ओर भी आपका चित्त आकर्षित हुआ। और इसके परिणाम में आपने पहिले पहल पाटडी में ही एक पाठशाला स्थापित करवाई।

सं० १९५४ से १९५८ तक के चातुर्मास आपने यथाक्रम से म्हेसाना-समी-महुवा-वीरमगाम तथा मांडल में किये। म्हेसाने के चातुर्मास में आपने न्यायशास्त्र का अभ्यास विशेष किया, क्योंकि यहां अभ्यास करने के साधन अच्छे थे। समी के चातुर्मास में आपके उपदेश से धार्मिक क्रियाएं (तपस्या-पौषध आदि) बहुत हुईं।

महुवा, यह आपकी जन्मभूमि थी। लोगों के आग्रह से आपने वहां भी एक चातुर्मास किया। जिस समय आपने महुवा में चातुर्मास किया, उस समय आप के (सांसारिक) पिताजी नहीं थे। उनका पहिले ही स्वर्गवास हो गया था। लेकिन आपकी माता तथा और सब कौटुम्बिक मनुष्य थे। आपकी पहलेकी और इस समय की अवस्था में महदन्तर हो गया था। इस समय जो ज्ञान है, वह पहिले नहीं था। इस समय जो गंभीरता है, वह पहले नहीं थी। इस समय जो वेष है, वह पहले नहीं था। और इस समय जो नाम है, वह भी पहले नहीं था। आपकी उपदेश देने की शक्ति को देखकर महुआ के जैन ही क्यों? समस्त

प्रजा आश्चर्य में लीन हो जाती थी। 'मनुष्यों की एक ही अवस्था हमेशां के लिये नहीं रहती'। 'जहां जल का बिन्दु भी न हो, वहां बड़े २ सरोवर बन सकते हैं' और 'दरिद्र मनुष्य भी धनाढ्यों का शिरोमणि बन सकता है" इन बातों पर, आपको देखने और उपदेश के श्रवण करने से दृढ़ विश्वास लोगों को हो जाता था। जो हमेशां जूआ खेलने में—सट्टा करनेमें तथा जंगलों में घूमनेमें अपने समय को व्यतीत करता था एवं जिसको पढ़ना लिखना महान् पाप जैसा कार्य लगता था, वह महाशय महान् विद्वान् होकर गंभीर ध्वनि से हजारों मनुष्यों को देशना दे, उपदेश दे, इस अवस्था को देखकर किसको आश्चर्य नहीं हो सकता है ?।

यद्यपि आपकी इस अवस्था को देखकर शहर के समस्त मनुष्यों को एक समान आनन्द हो रहा था, परन्तु आपकी माता के हृदय में इनको देखकर जितना आनन्द—हर्ष होता था, उतना दुःख भी होता था। जिस पुत्रवात्सल्य से माता अपने पुत्र को पासमें बैठाकर खिलाती पिलाती और जिसके लिये अनेक कष्टों को भी सहन करती, उस पुत्रवात्सल्य से अब माता को अपने पुत्र से बात करने तक का अधिकार नहीं रहा। जो माता अपने पुत्र को, अपने संबन्धियों के यहां भी कभी रोटी खाने को नहीं जाने देती थी, उसी माता को, आज अपने पुत्र को घर २ भिक्षा मांगते हुए देखने का अवसर प्राप्त हुआ। और जो माता जिसको पुत्रभाव से अपनाकर इच्छितवस्तुओं को बना कर खिलाती थी, उसी को आज, 'धर्मलाभ' रूप आशिर्वाद सुनकर बने बनाये निर्दोष भिक्षा देने का समय आया।

लेकिन यह सारा दुःख अपने पुत्र की प्राभाविक शक्ति को देखकर दब जाता था। माता इस बात से फूले नहीं समाती थी, कि मेरा पुत्र मेरे कुल में एक सूर्यसमान निकला।

जो माता संसार में इन तीन श्रेणि में से किसी श्रेणि के मनुष्य को जन्म देती है, उसी की कुक्षि को धन्य माना है। १ भक्त, २ दाता अथवा ३ शूर। एक नीतिकार कहता है:—

जननी जण तो भक्त जण, कां दाता कां शूर।
नहीं तो रहेजे वांझणी, मत गुमावीश नूर ॥

चरित्रनायकजी की माता को इस बात से अधिक हर्ष होता था कि उसने एक सच्चे भक्त पुत्र को उत्पन्न किया।

महुवा में आपने दो मनुष्यों को दीक्षा देकर साधु भी बनाये। महुआ के जैनों ने दीक्षोत्सव में बहुत द्रव्य व्यय किया। ज्ञानवृद्धि के कारण यहां पर भी आप ने एक लायब्रेरी [पुस्तकालय] स्थापित करवाई। तथा कई एक धार्मिक कार्यों का भी सुधार करवाया।

वीरमगाम के चातुर्मास में, आपके उपदेश से वहां के श्रावकों में बहुत तपस्याएं तथा और भी धार्मिक कार्य हुए। तथा यहां भी आपने एक बडी लायब्रेरी स्थापित करवाई।

इस प्रकार सं. १९५८ की साल तक आपका काठियावाड-गुजरात में विहार हुआ। इस दरमियान ज्ञानवृद्धि के लिये आपने पाठशालायें तथा पुस्तकालयों के स्थापित करवाने का कार्य प्रारंभ किया। आपकी उपदेश शक्ति गुजरात काठियावाड में मशहूर हो गई थी। कारण यह था कि आपका उपदेश ऐसा सर्व साधारण हुआ करता था (जैसा कि आज कल भी होता है) कि जिसको सुनकर जैनों के अतिरिक्त हिन्दु और मुसलमान तक भी प्रसन्न होते थे।

आप उस समय में पूर्ण युवावस्था में थे। अकसर करके यह देखा जाता है कि युवान पुरुषों में अगर किसी प्रकार की शक्ति आ जाती है, तो उसकी अभिमान की मात्रा बढ़ जाती है। लेकिन यह बात आप में नहीं थी। आप की गंभीरता-उदारता जैसी इस समय में है, वैसी उस समय में भी थी। इस लिये आप किसी बात के अभिमान में नहीं वह जाते थे। और कोई अभिमानी पुरुष आपके सामने अपनी बड़ाई की तूती बजाता भी, तो उसको अपनी तार्किकशक्ति से जवाब भी वैसा ही देते कि-जिससे अभिमानी को नीचा ही देखना पड़ता।

एक समय की बात है। जब आप गुजरात में विचररहे थे, उस

समय किसी गांव में आपके एक बहुपरिचित मुनि मिले। मुनिजी ने आप से कहाः—"धर्मविजयजी! मैंने अमुक गांव में मेरे नाम की शाला स्थापित करवाई, आपने क्या किया?" महाराजश्री ने उस बात पर यही उत्तर दियाः—"आप, आपके नाम की एक शाला से इतने फूल क्यों जाते हैं?। मेरे नाम की गांव गांव में शालाएं स्थापित हैं। और इनको स्थापित करवाने में मुझको जरा सा भी परिश्रम नहीं उठाना पडा है।"

आपके जवाब से मुनिजी चुप हो गये और नीचे ताकने लगे। आपके जवाब में रहस्य यह था कि–आपका नाम 'धर्मविजय' था, और **धर्म-शालाएं** गांव गांव होती है। अभिमानी के सामने ऐसा ही जवाब उचित था।

लायब्रेरीएं–पाठशालाएं स्थापित करवाने की आप शुरूआत कर चुके थे, परन्तु उन पाठशालाओं को चलासके, ऐसे जैनशिक्षक, जैन-समाज में नहीं होने की बात आपके लक्ष्य बाहर नहीं थी। धार्मिक-शिक्षण की आवश्यकता के विषय में मत-भेद नहीं था। परन्तु उस शिक्षण को देनेवाला और उसमें भी मूल भाषा (संस्कृत-प्राकृत) का ज्ञान करानेवाला योग्य गुरुमंडल तय्यार न हो, वहां तक जो पाठशालाएं तय्यार हों, उनकी दृढता की क्योंकर आशा रक्खी जा सकती है? और कदाचित् धार्मिक क्रियाओं के सूत्रों को विद्यार्थि लोग मुखपाठ कर भी लें, लेकिन जहां तक उसकी मूल भाषा को न सीखें, वहां तक उनके रहस्य को क्योंकर प्राप्त कर सकते हैं? यह प्रश्न खास विचारणीय था और आपके मस्तिष्क में इस विचार ने ठोकर भी खाई।

काशीमें कीर्तिस्तंभ

जब तक बीज अच्छा न हो, तब तक, अच्छे वृक्ष, सुंदर पुष्प तथा स्वादिष्ट फल की आशा रखना व्यर्थ है। वैसे ही जब तक मूल भाषा का ज्ञान न हो तब तक उस भाषाके ग्रन्थोंके पढ़ने से उसके सच्चे रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकते। इस विचार से आप के अंतःकरण में दो बातों की पूर्तिकरने का विचार हुआ। संस्कृत प्राकृत के जानने वाले अच्छे शिक्षक—विद्वानों के उत्पन्नकरने और प्राचीन जैन साहित्य के प्रकाशित कराने का। इन दोनों बातों की जैनों में पूर्ण आवश्यकता है, ऐसा आप के मनमें दृढ़ विश्वास होगया।

जैनोंमें संस्कृत-प्राकृतका पठन-पाठन क्रम बिलकुल लुप्त प्रायः हो गया था, इससे इन भाषाओं के अच्छे विद्वानों के तय्यार करनेकी जितनी आवश्यकता थी, उतनी ही जरूरत पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों के प्रकाशित करने की भी थी। क्योंकि, सैकड़ों जैनाचार्यों के बनाए हुए लाखों नहीं, करोड़ों ग्रन्थ भंडारों—अंधेरीकोठड़ियों में कीड़ों के भोजन हो रहे थे। (अब भी कई जगह हो रहे हैं) प्राचीन भंडारों के देखने से आप को मालूम होगया कि—' संसार में ऐसा कोई भी विषय नहीं है कि, जिस विषय पर हमारे पूर्वाचार्यों ने ग्रंथ न बनाये हों। जब ऐसी ही अवस्था है तो फिर उन ग्रन्थों का उद्धार करके उनका प्रचार क्यों न किया जाय? अपने पासमें लाखों की पूंजी होने पर भी, छोटी सी बात के लिये दूसरों के आगे याचना करना; आपने उचित नहीं समझा। इसके लिये जो कुछ करने का था, वह भी आपने अपने मनमें निश्चय कर लिया।

उपर्युक्त दोनों कार्यों में से पहले ही कार्य को प्रारंभ करना आपने उचित समझा। लेकिन इस कार्य के प्रारंभ करने में प्रथम विद्यार्थी, खर्च और स्थान इन तीन बातों की जरूरत थी। इस त्रिपुटीकी अनुकूल एकतासे ही मूल उद्देश्य साध्य हो सकता था। इस लिये आपने उपर्युक्त बातों के लिये प्रयत्न करना आरंभ किया। थोड़े ही समय में अच्छे २ बुद्धिमान् १० विद्यार्थी इकट्ठे किये। और इनके खरच के लिये शुरुमें दश हजार रुपयों का फंडभी इकट्ठा करवाया।

इस समय आपका चातुर्मास मांडळ (गुजरात) में था। विद्यार्थियों के एकत्रित हो जाने से जब तक अनुकूल स्थान न प्राप्त हो, वहाँ तक भी आपने उन विद्यार्थिओं को बैठा रखना उचित नहीं समझा। इस लिये मांडलमें ही सं० १९५८ के ज्येष्ठ महीने में 'श्रीयशोविजय जैनपाठशाला' की स्थापना करवाई और विद्यार्थियों को संस्कृत व्याकरणादिका अभ्यास शुरु करवाया। इस पाठशाला की व्यवस्था करने और फंडवढ़ाने के लिये एक प्रबंधकारिणी सभा भी नियत हुई, कि जिसका मुख्य स्थान **वीरमगाम** निर्धारित भया।

पवित्रकार्य में पवित्र पुरुषों का नाम बहुत लाभप्रद होता है। और इससे ही मनुष्य, प्रातःकाल में पवित्र पुरुषों के नामस्मरण करते हैं। जैसे परमाणुओं में यहाँ तक शक्ति है कि—वे एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पर्यन्त किसी भी आत्मापर विविधअसर करते हैं। वैसे पवित्रनामस्मरण से मानसिक विचारों में पवित्रभावनाओं की वृद्धि होती है। और इसीसे आपने इस पाठशाला का नाम 'श्रीयशोविजयपाठशाला' रक्खा।

श्रीयशोविजयजी, अठारहवीं शताब्दिमें, जैनोंके एक प्रभाविक पुरुष होगये हैं। काशी में बारहवर्ष तक रह कर आपने न्यायशास्त्रों का खूब अभ्यास किया था। और आपको काशी में ही **न्यायविशारद** की पदवी मिलि थी। एवं सौग्रन्थों के बनाने के उपलक्ष में 'न्यायाचार्य' की पदवी भी प्राप्त की थी। ऐसे प्रभाविकपुरुष के नाम से ही इस पाठशाला की स्थापना हुई। एक ओर आपका प्रयत्न तो प्रशंसनीय था ही और दूसरी ओर महापुरुष का पवित्र नाम, इन दोनों के एकीभाव से विद्यार्थिओं के अभ्यास का तेज बढ़ने लगा। परन्तु प्रश्न यह विचारणीय था कि—हमेशा के लिये **मांडल** क्षेत्र, अभ्यास के लिये अनुकूल हो सकेगा, या नहीं ?

अवकाश, आलस्य को आमंत्रण करता है। और अभ्यास के कार्य में आलस्य का प्रवेश हो तो परिश्रम और द्रव्यव्यय सभी व्यर्थ हो जाने की संभावना रहती है। इस अवस्था में मांडल, अभ्यासियों के लिये योग्य स्थान नहीं गिना जा सकता। इसमें कई कारण थे। विद्यार्थि

लोग जिस समय चाहें, उस समय अपने घर जा सकें। संबंधियों के वार वार आने जाने से भी विद्यार्थियों के अभ्यास में स्खलना हो और सब से बड़ी न्यूनता तो यही थी कि—संस्कृत-प्राकृत के अभ्यासकों की विशालता इस क्षेत्रमें नहीं थी। और इससे पाठशाला में जो अभ्यास होता था, उसको व्यवहार में अहोरात्री परिशीलन पूर्वक दृढ उत्तेजन नहीं मिल सकता था।

आपकी इच्छा यह रहा करती थी कि—जो कार्य करना, उसको सुदृढ करना। क्योंकि—हजारों रुपयों और अमूल्य समय के व्यय होनेके पश्चात् भी यदि विद्यार्थिलोग अपूर्ण अभ्यास में ही पृथक् हो जाँय, तो 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' होने का समय आवे। इस लिये आपने बहुत विचार करके इस पाठशाला को 'काशी', कि जो संस्कृत विद्या का केन्द्र है तथा जहां श्रीयशोविजय महाराज ने बारह वर्षों तक रहकर अभ्यास किया था, वहां ले जाने का निश्चय किया।

आपने जिन जिन लोगों के सामने इस विचार को प्रकट किया, उन लोगों में से बहुतोंने काशी नहीं जाने की ही सलाह दी। ऐसी सलाह देने में कारण यह था कि—वर्षों से उस देश में जैन साधुओं का विहार बिलकुल बन्द हो गया था। रास्ता भी कई जगह ऐसा विकट और भयंकर सुनते थे कि जिसको, छोटे विद्यार्थिओं को लेकर निर्विघ्नता से पूर्ण करना कठिन था। एवं रास्ते में ऐसे प्रान्तों का भी उल्लंघन करने का था, कि जहां जैन साधु कैसे होते हैं? उनके आचार कैसे होते हैं, इत्यादि बातों को भी कोई नहीं जानते थे। इत्यादि कारणों से बहुत लोगों के निषेध करने पर भी आपने अपने विचार को सुदृढ रक्खा, और गुजरात से ६ साधु तथा १०-१२ विद्यार्थियों को साथ में लेकर काशी [बनारस] जाने के लिये प्रयाण किया।

प्रयास स्तुत्य था, किन्तु प्रयाण विकट था। काशी पहुँचने में जो मार्ग उल्लंघन करने का था, वह बहुधा जैनधर्म से-जैन साधुओं से अज्ञात तथा प्रायः दया-दाक्षिण्य से रहित था। तथापि दृढ निश्चय से भयंकर जंगल, बडे २ रण, पांच २ दश २ कोसों पर स्थानों का मिलना,

क्षुधा-तृषादिक कष्ट तथा आहारादिक के देने की विधि से अज्ञात मनुष्यों के समुदाय में होकर आपने अपने बिहार को आगे बढाया। 'जैन' शब्द से 'उज्जैन' शहर समझनेवाले लोगों में जैनमुनि के आचारों का ज्ञान कैसे हो सकता है ?। यह आहार जैनसाधु के लिये निर्दोष है, यह वस्तु देने में साधु को दोष लगता है, इत्यादि बातों का अनुभव लोगों को कौन करावे ?। रास्ते में आपको इन बातों का बहुत कष्ट होने लगा—अनेकों तकलीफें उठानी पडी। उष्ण जल, उचित आहार, तथा सुरक्षित आश्रमों का बहुत दफे अभाव रहने लगा। बल्कि बहुत जगह पर ऐसा भी होता था कि जैनों से द्वेष रखनेवाले अज्ञान लोग लडने झगडने की नोबत पर आकर अनेकों उपद्रव भी करते थे। इन सभी बातों को आप धैर्य से सहन करते आगे बढते ही रहे।

आपके साथके साधुओं के विचार बहुत दफे गुजरात में पीछे लौट जाने के हुआ करते थे। परन्तु आप सभी को महान् पुरुषों के दृष्टान्त देकर समझा बुझाकर आगे लिया करते थे। कारण यह था कि आपके रोम रोम और हड्डी हड्डी में इस भावना ने निवास किया था कि—'अङ्गिकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति'। आपके मन में यह निश्चय हुआ था कि—'देहं पातयामि कार्यं साधयामि'। चाहे कितने ही कष्टों का सामना करना पडे, परन्तु अपने लक्ष्य को कभी चूकना नहीं चाहिये।

रास्ते में कई जंगलों में यह भी होता था कि—आप के साथ के साधु लोग कभी २ रास्ता चूक जाने के कारण मंडल से अलग भी हो जाते थे, और वे दो दो तीन तीन लंघनो के बाद बड़ी खोजखाज से मिलते थे।

इन सारे कष्ट और परिषहों को, विद्याप्रचार की मूल नींव डालने के दृढनिश्चय और सात्त्विक प्रेमसे, सामान्य कसौटी सहन करते करते भोयणी–कपडवणज–दाहोद–राजगढ़–उज्जैन–मक्सीजी–शाजापुर –गुणांकी छावणी–सीपरी–झाँसी–काल्पी तथा कानपुर वगैरह स्थानों में उपदेश देते हुए–धर्मके सच्चे स्वरूप को समझाते हुए सं. १९५९ वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) के दिन आपने बनारस में प्रवेश किया।

बनारस में पहुँचने पर भी, आपको कष्टों का सामना करनेसे छुटकारा नहीं होने पाया था। काशी बिलकुल अपरिचित स्थान था। एक भी मनुष्य यहाँ आपका परिचित नहीं था। इस अवस्था में कहाँ ठहरना, किस के पास ठहरने का मकान मांगना, इत्यादि बहुत विचारणीय विषय थे। छोटे २ विद्यार्थिओं को लेकर मकान के लिये घर २ घूमना अथवा गली गली में तलाश करना, यह जितना कठिन था, उतना ही 'जैन म्लेच्छ हैं, 'जैन नास्तिक हैं, 'जैनों को छूने से स्नान करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों के सुनने के साथही लोगों का तिरस्कार सहन करना भी था। ऐसे अपरिचित क्षेत्रमें यकायक मकान भी कौन दे ?। निदान सूतटोलामें एक जीर्ण-तूटी-फूटी तथा डांस-मच्छर एवं अनेक जीव-जन्तुओं के उपद्रवों से युक्त धर्मशाला की झोंपड़ी में बारह विद्यार्थी तथा छे साधुओं के साथ आपने निवास किया। और प्रारंभ में दो तीन पंडितों को नियत करके विद्यार्थियों तथा साधुओं का अभ्यास शुरु करवाया।

इस मकानमें, नहीं नहीं खण्डहरमें नव महीने व्यतीत किये। इस बीच अनेकों दफे भयंकर कष्टोंका सामना करना पड़ा, परन्तु आपके पुण्यप्रकर्ष से किसीको-किसी प्रकारकी हानि नहीं हुई। वर्षा-वायुके समयमें तो इसमकानके गिर जानेका प्रतिक्षण डर रहा करता था-कई दफे कोई कोई अंग गिरभी पड़ता था, परन्तु आप गिरनेके पहिलेही से सबको सावधान कर देते थे।

इस अवस्थामें नवमहीने व्यतीत किये। परन्तु आपने विचार किया कि-"इस मकानमें रहना क्या है, मानो मरणान्त कष्टोंको निमन्त्रण करना है। जबतक किसी अच्छे मकानमें पाठशाला न लेली जाय, वहाँ तक न यह पाठशाला बढ़ सकती है, और न इन कष्टोंसे छुटकारा होने का है।"

इस विचार में थे, इतनेमें नन्दनसाहु मुहल्ले में अंग्रेजी कोठी नाम के विशाल मकान के बेचे जाने की बात आपके सुनने में आई। इधर आपने बम्बई निवासी दानवीर सेठ वीरचंद्र दीपचंद्र सी. आई. ई. जे. पी. तथा दानवीर सेठ गोकुलभाई मूलचन्द्रजी को 'पाठशाला को

मकान की आवश्यकता है ' इस बात का उपदेश लिखा। इन दोनों सेठों ने पाठशाला के मैनेजर को लिख दिया कि—' जो कुछ खर्च हो, पाठशाला के लिये अच्छे से अच्छा मकान खरीद कर लो।'

उपर्युक्त दोनों सेठों की चरित्र नायकजी पर पूर्णश्रद्धा थी। जिस समय जिस बात का आप उपदेश लिखते, उसी समय उस बात को स्वीकार करते। अकेले सेठ वीरचंद दीपचंदजी ने आपके उपदेश से करीब पौनलक्ष (७५०००) रुपये अच्छे २ कार्यों में व्यय किये थे। चरित्र नायकजी को बंगाल—मगध वगैरह देशों में विहार करने में सेठ जी ने पूर्ण सहायता की थी।

पाठशाला के मैनेजर ने उपर्युक्त ' अंग्रेजी कोठी ' वाला मकान पाठशाला के लिये खरीद लिया। और इस मकान में पाठशाला भी आगई।

' मिष्ट भोजन सबको प्रिय लगता है।' ' विवेक से शत्रु भी मित्र होता है।' इन नियमों को—सिद्धान्तों को आप अच्छी तरह समझे हुए थे। इस समय काशी में समस्त लोग अन्यमतावलंबी, अन्यमतावलंबी ही नहीं, बल्कि जैनों से पूर्ण द्वेष रखनेवाले ही प्रायः थे। इस अवस्था में उन लोगों को अनुकूलताके लिये—जैनधर्म संबंधी अज्ञानता दूर करने के लिये शान्त उपदेश के सिवाय दूसरा रास्ताही नहीं था।

उपदेश देने में भी एक और बात विचारणीय थी। अपने स्थान को प्रिय गिन पदवीधर बन ' जी! हा!' कहलानेका यह स्थान नहीं था। भाविक जैन समुदायका यह क्षेत्र नहीं था, कि-उपाश्रय में नियमित समय पर लोग शास्त्र—श्रवण करने को आवें। इससे आपने प्रसिद्ध स्थानों पर खड़े होकर जाहिर व्याख्यान देने का कार्य प्रारंभ किया। हमेशां संध्या के ४॥—५ बजे दो तीन साधुओं तथा कुछ विद्यार्थियों को साथ में लेकर मकान से निकलते। कभी ' कंपनी बाग में ' कभी ' राजघाट के पास बड़े रास्ते पर ' अथवा तो कभी ' दशाश्वमेध घाट ' पर। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रसिद्ध स्थानों में जाहिर व्याख्यान देने लगे। आपने अपनी उपदेश पद्धति तटस्थ - सामान्य नैतिक उपदेश की रक्खी। प्रत्येक व्यावहारिक नीतिके सिद्धान्तों केलिये बाईबल—कुरान और हिन्दु

धर्म शास्त्रों के ही प्रमाण देने लगे, और इसके साथही साथ जैन तत्त्व ज्ञान कितना आगे बढ़ा हुआ है, यह भी दिखलाने लगे।

वर्षोंतक पास में रहने वाला और सारे दिन सेवा करने वाला समुदाय, वर्षों के बाद भी जो प्रकाश नहीं देख सकता है, वह प्रकाश, काशी का अज्ञात समुदाय भी देखने लगा । ज्यों २ दिन व्यतीत होते गये, त्यों २ आपके उपदेश का असर बहुत कुछ होने लगा। और थोड़े ही दिनों में शहर के समस्त विभागों में आपके उपदेश की प्रशंसा होने लगी। बल्कि काशीराज (काशीनरेश) की राजसभा में भी कभी २ इसकी चर्चा होने लगी। धीरे धीरे जाहिर मार्गों पर व्याख्यान के सयम हजारों मनुष्यों की भीड़ होने लगी, और जो लोग जैनों से बात करने में भी पाप समझते थे, वे उपाश्रय में (मकान में) आकर प्रश्न-चर्चा करने लगे। जिस स्थान में जैन मुनि को रहना भी मुश्किल था, वहां जाहिर उपदेश ने उनके प्रति लोक-प्रेम उत्पन्न किया।

"ऐसा कोई भी कार्य नहीं है कि जिसको मनुष्य न कर सके" इस लोकोक्ति को चरितार्थ करने के लिये दृढ़ता और शान्तता से निरन्तर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। इसके बीच में आनेवाले अकथ्य-आकस्मिक विघ्नों को उल्लंघन कर जाना, यही कार्यसिद्धि का शुभचिह्न है।

पाठशाला की जड़ मजबूत करने में आपको भी अनेकों विघ्नों का सामना करना पड़ा। काशी की प्रत्यक्ष कठिनताओं को जाने दीजिये। जिस ईर्ष्या ने हमारे भारतवर्ष को नष्ट कर दिया है, उस ईर्ष्या-दग्ध जैनों ने भी आपको उपद्रव करने में कोई बाकी नहीं रक्खी थी, परन्तु धीरता-वीरता और गंभीरता से आप अपने कार्य में आगे ही बढ़ते रहे। आप दुश्मनों से कभी नहीं डरे। आपका यह मन्तव्य है कि—'जब तक अपना अन्तःकरण निर्मल है, तब तक किसी का उपद्रव कुछ भी नहीं कर सकता।' और इसी नियम का अवलम्बन करके आप अपने कार्यों में आगे बढ़ते रहे हैं।

अनेकों उपद्रव होने पर आपने पाठशाला की उन्नति की। एक ओर विद्यार्थियों की संख्या बढ़ते २ पचास से ६० तक हो गई। और

दूसरी ओर पाठशाला की कमेटी ने फंड में भी अच्छे प्रकार वृद्धि की। इससे काशी के अच्छे २ विद्वान् पंडितों को रख लिये और न्याय-व्याकरण-काव्य-कोश-नाटक-चम्पू वगैरह का अभ्यास नियमित चलने लगा।

पाठशाला के विद्यार्थियों का ज्यों २ अभ्यास बढ़ता गया, त्यों २ साहित्य-संग्रह की आवश्यकता आपको मालूम हुई। और इससे पाठशाला के मकान में ही आपके उपदेश से सं० १९६१ में 'श्रीहेमचन्द्राचार्य-जैनपुस्तकालय' खुलवाया। इस पुस्तकालय में अंग्रेजी—गुजराती—हिन्दी तथा संस्कृत वगैरह भिन्न २ भाषाओं के प्राचीन—अर्वाचीन ग्रन्थों का संग्रह किया जाने लगा। इस पुस्तकालय के लिये नये उपयोगी ग्रन्थों का पसंद करना तथा उनकी व्यवस्था करने का कार्य मुनिराज श्रीइन्द्रविजयजी महाराज करने लगे।

राज-दरबारमें जैनश्रद्धा

उपर्युक्त प्रकरण में कहा जा चुका है कि—आप के उपदेश की प्रशंसा यहां तक होने लगी, कि श्रीकाशीराजके दरबार में भी इसकी चर्चा कभी कभी निकलती। इससे विद्यानुरागी श्रीनरेशजी की इच्छा आपको अपने दरबार में बुलाने की हुई। इधर आपके मन में भी यही इच्छा हुई कि स्थान और स्थिति सरल होने पर, अब इसकी दृढ़ता के लिये समय की अनुकूलता भी प्राप्त हुई। अतः अब राज्य-दरबार में भी जैन-श्रद्धा के होने की परमावश्यकता है। ऐसा विचारकर आपने भी श्रीमान् काशी राजके दरबार में जाने की इच्छा की।

दोनों के विचार के एकाधिकरण से अमुक तारीख को आपने श्रीकाशी राज के दरबार में जाने का निश्चय रक्खा। श्रीकाशीराज ने आपके लिये फेटिन तथा नाव दोनों प्रकार का बंदोबस्त करके आपको सूचना दी। लेकिन ये दोनों साधन आपके लिये अनुपयोगी थे। क्योंकि—जैन साधुओं का यह आचार है कि—वे किसी सवारी पर नहीं चढ़ते।

अगर कोई और रास्ता न हो, और अमुक स्थान पर जाने के लिये बीच में नदी पड़ती हो, तो बेशक नाव में बैठ सकते हैं। वह भी यदि सामने का किनारा दिखलाई देता हो तो, अन्यथा नहीं । श्रीनरेश, अभी तक जैन साधु के इस आचार से अपरिचित थे। काशी से श्रीकाशीनरेश का दरबार (रामनगर) खुशकी रास्ते से पांच मील होता है। नाव में बैठने वालों के लिये तो सिर्फ गंगा को उल्लंघन करना पड़ता है । आपने अपने आचार की रक्षा करने के लिये पांच मील के रास्ते से पैदल ही जाना समुचित समझा ।

निश्चय किये हुए समय पर आप, अपने शिष्यों और पाठशाला के समस्त विद्यार्थियों के साथ श्रीकाशी राज के दरबार में पधारे ।

इस प्रसंग पर श्रीकाशीराज ने काशी के प्रसिद्ध २ विद्वानों के उपरान्त अपने राजगुरुको भी निमंत्रण देकर बुलाए थे । जिस समय आप सभा के कमरे में पधारे, उस समय काशीराज सह समस्त विद्वद्वर्गने आप का सत्कार किया। और आप के लिये पहिले तैय्यार किये हुए उच्चासन पर बैठने के लिये कहागया। उस समय आपने कहा:—

" इस जैन भिक्षु को आप जो मान देरहे हैं, इसका स्वीकार करूं, इसके पहिले जैन साधुओं के ही नहीं, समस्त साधुओं के आचार के विषय में मुझे इतना ही कहने दीजिये कि-'गृहस्थानां यद् भूषणं, तद् साधूनां दूषणम्।'

विद्वानों की सभा थी। काशीराज भी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। सब लोग इस बात पर बड़े प्रसन्न हुए। पश्चात् आप अपनी कंबलपर विराजित हुए, और अन्यसभ्य गण भी गलीचे पर यथायोग्य स्थित हुए।

एक ओर महाराज काशीनरेश अपने मंत्रीवर्ग के साथ बैठे थे, दूसरी ओर काशी का विद्वद्वर्ग (बंगाली, हिन्दूस्थानी, मैथिल एवं अन्यान्यदेशीय) तथा एक ओर जैन धर्म गुरुओं का समूह और गुजरात काठीयावाड़ के विद्यार्थीवर्ग से इस परिषद् की शोभा सचमुच अकथनीय थी।

श्रीकाशीराज को जैन साधु के साथ यह प्रथम ही समागम था। काशीराज जैन साधुओं की शान्तता-निःस्पृहता एवं वैराग्य की झलक से बहुत प्रसन्न होते थे। लेकिन यह बात यहां बैठे हुए पंडितों में से उन पंडितों को बहुत असह्य मालूम होती थी, जिनके हृदय में से जैन धर्म परकी द्वेषकी मात्रा दूर नहीं हुई थी। उनकी यह इच्छा थी कि, किसी प्रकार काशीराज की इनके पर अप्रसन्नता हो जाय, और इस के लिये एक पंडित ने महाराजश्री से प्रश्न भी किया कि—"आपका दर्शन (जैनदर्शन) छे दर्शनों में से प्रथम है? मध्यम है, या अन्तिम है?"

पंडित देवता के मन में था कि—ये अपने दर्शन को प्रथम ही दिखलावेंगे, और इससे महाराजा काशीराज को अप्रसन्नता होजायगी।

आप पंडितजीके आन्तरिक अभिप्राय को समझ गये, और इससे इसका जवाब आपने यह दिया कि—"प्रथम दर्शन से मोक्ष होता है? मध्यम से होता है या आन्तिम से? जिससे मोक्ष होता हो, वही दर्शन मेरा है।"

बस, कहना ही क्या था, पंडितजी चुप हो गये, और काशीराज इस उत्तर से और खुश हुए। पश्चात् महाराजश्री ने अपना वक्तव्य प्रकट करना शुरू किया।

प्रारंभ में जैन साधुओं के आचार-विचार विषयक विवेचन किया, जिससे 'ऐसे पवित्र आचार को पालने वाले भी अभी तक इस संसार में मौजूद हैं।' इस बात पर सारी सभा बहुत ही प्रसन्न हुई, और जैन साधुओं को धन्यवाद देने लगी। एवं मुक्तकण्ठ से यह कहने लगे कि—"**पूर्व ऋषि महर्षिओं के वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रख कर, सच्चे आचार पूर्वक चलने वाले अगर किसी दर्शन के साधु हैं, तो वे जैन दर्शन केही हैं।**"

आप इतने समय के अनुभव से समझ सके थे कि-इस प्रदेश में जीव दया की ओर जन समाज का बिलकुल ध्यान नहीं है, और इससे राज्यदरबार में इस की चर्चा होने से अधिक लाभ की संभावना है। ऐसा विचार कर, इस प्रसंग में आपने

धर्म-भावना

के विषय पर आकर कहाः—

"षड् दर्शन के अनुयायी इन पांच प्रकार के सामान्य धर्मोंका स्वीकार करते हैं:—

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसासत्यमस्तेयत्यागो मैथुनवर्जनम्॥ १ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, त्याग और मैथुन वर्जन, इन पांच सामान्य धर्मों में किसीका विवाद नहीं है। गौण क्रियाओं में भलेही भेद रहे, इसके साथ किसी को झगड़े का कारण नहीं है।" (यहां एक एक धर्म की व्याख्या जैन ही नहीं, हिन्दु धर्म-शास्त्रके प्रमाणों से भी आपने कर दिखाई थी) आगे चल कर 'ऐक्य' के विषय पर आपने कहाः—

"संसार में जितने समाज हैं, वे भले ही अलग रहें, इसके लिये किसी को दुःख या खेद नहीं होगा। परन्तु आपस में विरोध नहीं रखना चाहिये। **भिन्नता** और **विरुद्धता** के नियम को अच्छी तरह समझना चाहिये। हम देख सकते हैं कि-भिन्नता तो अपने शरीर के प्रत्येक अंगों में भी रही हुई है, परन्तु उनमें विरुद्धता नहीं है। भिन्न होते हुए भी कार्य प्रसंग में एकता कर लेते हैं। यदि इन में विरुद्धता होजाय, तो सारे शरीर को नष्ट होजाने में देर न लगे। इसी तरह प्रत्येक पब्लिक के कार्यों में अपने लोगों को भी मिल जाना चाहिये। भारत-भूमिरूपमाताकी कुक्षिसे जितने उत्पन्न हुए हैं, वे सभी बन्धुही हैं। अतएव एककी उन्नति देखकर दूसरे को जलना नहीं चाहिये, किन्तु प्रसन्न होना चाहिये। अपना बन्धु समझ करके उसकी सहायता देनी चाहिये। हमारा तो यही कहना है कि-**अपने में भिन्नता भले रहे, किन्तु विरुद्धता को देश निकाला देदेना चाहिये।**

आप श्रीमानों को मालूम ही है कि-अपने लोगों में एक दूसरे पर असद्भूत कलंक और आक्षेप दिये जाते हैं। और इसका परिणाम यह आता है कि-आपस में लट्ठा लट्ठी होकर एकीभाव में बड़ा भारी

विरोध आ पड़ता है। देखिये हमारे जैनोंहीं पर "जैना नास्तिकाः' 'हस्तिमा ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्' इत्यादि आक्षेप कई लोगों की तर्फ से दिये जाते हैं। परन्तु मैं पूछता हूँ कि- कभी उन लोगों ने इस बात का परामर्श–विचार किया भी है कि–'जैन नास्तिक हैं या नहीं ? अथवा 'हाथी मारडाले भले, परन्तु जैनमंदिर में न जाना, इसका क्या कारण?' 'क्या ये वाक्य किसी प्राचीन धर्मशास्त्र में हैं?' विचार पूर्वक देखाजाय तो ये वाक्य साफ द्वेष के कारण से ही पीछे से चल पडे हैं। देखिये, जैनों को नास्तिक कहना, मैं वैसी ही भूल देखता हूँ, जैसी दिन को रात्रि कहने की भूल। जिस दर्शन में आत्मा-पुण्य-पाप-स्वर्ग-नरक-मोक्ष कर्म-ईश्वर वगैरह पदार्थ माने हुए हैं, उस दर्शन को कौन बुद्धिमान नास्तिक कह सकता है ?। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि—उपर्युक्त पदार्थों का विवेचन जैसा जैनशास्त्रों में किया हुआ है, वैसा और किसी शास्त्र में मेरे देखने में नहीं आया। यह मेरा पक्षपात नहीं है, परन्तु निष्पक्षपात बुद्धि से कहता हूँ। इस बात की प्रतीति औरों को तब ही हो सकती है, जब, वे जैनशास्त्रों को उदार बुद्धि से देखें। हमें आश्चर्य तो इस बात का होता है कि—दूसरों के स्थानों में, जोकि सर्वथा हमसे भिन्न हैं। जाने और उनके धर्मग्रंथों के पढ़ने में जरा सा भी संकोच नहीं होता, परन्तु जैनमंदिर में जाने और जैनग्रन्थों के पढ़ने में पाप समझा जाता है ! इसको द्वेष का कारण नहीं, तो और क्या कह सकते हैं ? नास्तिक तो वेही हैं, जो आत्मा-पुण्य-पाप-स्वर्ग-नरक-मोक्ष इत्यादि पदार्थों को नहीं मानते हैं। अब रही जैनमंदिर नहीं जाने विषय की बात। लेकिन ऐसे तो सब कोई कह सकते हैं। अर्थात् इसके प्रत्युत्तर में अगर जैन लोग भी ये कहें कि—'सिंहेनाऽऽताड्यमानोऽपि न गच्छेच्छैवमन्दिरम्' तो इससे फायदा क्या ? लट्ठा लट्ठी-केशाकेशी के सिवाय, इसको और क्या कह सकते हैं ?। (यहां पर स्वयं नरेश तथा पंडित लोग खूब हँसने लगे) जो कुछ हो, अब इन अज्ञानजन्य प्रवृत्तिओं को भूल जाना चाहिये।"

इसके बाद आपने

जैनशास्त्रों के उदार भाव

के विषय पर आते हुए कहा कि—

"राजा-प्रजा का भाव, हमेशा गाढ सम्बन्ध रखता हुआ अनादि काल से चला आया है। राजा की उन्नति में प्रजा की उन्नति और प्रजा की उन्नति में राजा की उन्नति है। इस तरह हमारा पवित्र जैन-दर्शन भी स्वीकार करता है। हमारे शास्त्रकार हम लोगों को हमारी पाक्षिक क्रिया में:— श्रीश्रमणसंघस्य शान्तिर्भवतु। श्रीजनपदानां शान्तिर्भवतु। श्रीराजाधिपानां शान्तिर्भवतु। श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु। श्रीगोष्ठिकानां शान्तिर्भवतु। श्रीपौरमुख्याणां शान्तिर्भवतु। श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु। श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु। ॐस्वाहा ॐस्वाहा ॐश्रीपार्श्वनाथाय स्वाहा॥ इत्यादि मंत्रों के जाप करने की आज्ञा फरमाते हैं। इसका कारण यही है कि—राजा की शान्ति से समस्त प्रजा शान्ति से रह सकती है, और राजा की अशान्ति से सारी प्रजा को अशान्ति हो जाती है।"

आपके इन शब्दों का इस प्रकार से असर हुआ कि, राजा की अत्यन्त प्रसन्नता होने के साथ वहां बैठे हुए पंडितों के हृदयों में से भी द्वेषभाव न्यून हुआ। निदान उन्होंने जैनधर्म के उदारभावों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

समय बहुत हो गया था, महाराजश्री को पांच मील चलकर शहर में आना था। इस लिये सभा विसर्जन हुई। अन्त में महाराजश्री ने श्रीमान् काशीराज को, श्रीयशोविजय पाठशाला में आने को कहा। इसके उत्तर में श्रीमान् ने यही कहा:—

"जिस समय आप समाचार भेजवावेंगे, उस समय मैं आपकी पाठशाला में आने का प्रयत्न करूँगा।"

इस समागम के बाद श्रीमान् काशीराज का प्रेम पाठशाला के प्रति दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहा।

इसी भांति महाराजा श्रीदरभंगानरेश से भी धर्म-चर्चा करके जैनधर्म के उदार सिद्धान्तों को प्रकाशित करने का प्राथमिक प्रसंग आप को इसी वर्ष में मिला। इसका निमित्त इस तरह हुआ:—

काशी में पाठशाला को स्थापित हुए करीब दो वर्ष हुए थे। इतने समय में इस देश में जैनधर्म से बहुत लोग परिचित हो गये थे। साथ ही साथ जैनधर्म के अमूल्य और अपूर्व सिद्धान्तों के लिये जनसमाज में उच्चभाव प्रकट हुए थे। और 'जैन' शब्द के परिचय से कोसों दूर भागनेवाले भी जैन धर्म के प्रति अत्यन्त प्रेम दर्शाने लगे थे।

इस समय में (सं० १९६२ में) इलाहाबाद (प्रयाग) में कुंभके मेले के प्रसंग को लेकर श्रीयुत मदनमोहनमालवीय जी ने 'सनातनधर्म महासभा' का अधिवेशन करने का निश्चय किया। और इन्होंने बड़े २ धर्माचार्यों, महामहोपाध्यादि पदवीधर विद्वानों, एवं अन्यान्य प्रसिद्ध २ पुरुषों को निमंत्रित किये। हमारे चरित्र नायकजी को भी खास कर आपने निमंत्रण दिया था।

जैनधर्मके सिद्धान्तों का जनसमाज में विशेष प्रचार होवे, इस अभिप्राय से आप अपने शिष्यमण्डल तथा विद्यार्थिवर्ग को साथ में लेकर इलाहाबाद पधारे। और उपर्युक्त अधिवेशन में ऐक्य के विषय पर सुललित प्रभावशाली व्याख्यान दिया। यद्यपि आपको व्याख्यान देने के लिये १० मिनिट का समय मिला था, परन्तु 'ऐक्य' शब्द की व्याख्या करके, वर्तमान समयमें धर्मके नाम से ऐक्य (मैत्रीभावना) के नष्ट होने में ममत्व की जो मारामारी बढ़गई है; उसको समझा कर धर्म की शुद्ध व्याख्या सबके सिद्धान्तों में कैसी एक समान है, इसका दिखलाना शुरू किया। और आपके वाणी के माधुर्य-वाक्चातुर्य तथा उस में रहे हुए गौरव से सभा में बैठे हुए दस से पन्दरह हजार मनुष्य ऐसे तो तल्लीन बनगये, कि—आप पचास मिनिट व्याख्यान देतेही रहे, और सब लोग करतलध्वनि से हर्ष प्रकट करतेही रहे। इतनाही नहीं, परन्तु सभाके समाप्त होनेके पश्चात् महाराजश्रीके आश्रम स्थान में अनेकों मनुष्य ज्ञानगोष्ठि करने को आने लगे।

उपर्युक्त परिषद के अग्रस्थान में जगन्नाथपुरी के गोवर्धनमठके शंकराचार्य विराजमान हुए थे। महाराजश्रीके व्याख्यान को परंपरा से सुन करके श्रीमान् महाराजा दरभंगा नरेश भी बहुत प्रसन्न हुए थे, और आपने,

महाराजश्रीको अपने बंगले में पधारने को निमंत्रण किया। इस निमंत्रण को स्वीकार करके आप महाराजा दरभंगा के पास पधारे। नरेशने महाराजश्रीका बहुत सत्कार किया तथा आपके व्याख्यान की बहुत तारीफ की। नरेश के प्रश्न के उत्तर में आपने जैन धर्म, 'बौद्ध' धर्म से कितना पृथक् है, इस बात का बहुत अच्छी तरह विवेचन किया।

इलाहाबाद में आप पन्दरह दिन ठहरे, इस दरमियान में 'आर्य-समाज' 'क्रिश्चियनसमाज' वगैरह भिन्न भिन्न समाजों के आमंत्रण से, वहाँ जाकर जैनधर्म कैसा है? उसके तत्त्व क्या २ हैं ? इत्यादि विषयों को बहुत सरलता से समझाने का प्रयत्न भी किया था। इलाहाबाद से पुनः आप बनारस पधारे।

बिहार और बंगाल में प्रवास.

पाठशालाका कार्य अब व्यवस्थित हो चुका था। विद्यार्थियों की संख्या भी पचास के करीब हुई थी। उन विद्यार्थियों का अभ्यास भी अच्छी तरह से चल रहा था। काशी के समस्त लोगों का, स्वयं काशी-नरेशका भी, प्रेम एक समान हुआ था। अब आपने और देशों में विहार करने का इरादा किया। मुनि धर्मका अवलंबन करके अब एक ही स्थान में रहना आपने उचित नहीं समझा। 'पानी बहते भले और मुनि विचरते भले' इस लोकोक्ति को आप बराबर समझे हुए थे। एक ही स्थान में रहने से वहाँ के लोगों में अंधश्रद्धा प्रवेश करजाती है, और इससे मुनिधर्म के कठिन आचारों में प्रमाद—शिथिलता भी प्रवेश कर जाय, यह संभवित है। अत एव शास्त्रकारों ने भी साधुओं को एक ही स्थान में स्थिरवास करने का निषेध किया है। इन सब बातों को आप समझते थे। और इसके साथ ही साथ आपके मन में यह भी था कि—'जिस प्रदेश में स्थान स्थान में सैंकड़ों नहीं, हजारों श्रद्धालु जैन लोग

रहते हैं, जिस देश में ऐश—आराम और सुख शान्ति के साधन सर्वथा विद्यमान हैं, और जहाँ विचरने में समस्त प्रकार से विश्रांति तथा धूम-धाम के अनेकों प्रसंग मिलते हैं, उस प्रेमी-विवेकी-श्रद्धालु प्रदेश को छोड़ कर, अनेकों कष्ट तथा परीषहों को सहन करके दया धर्म से दूर रहे हुए प्रदेश में आना हुआ। यहाँ पाठशाला के स्थिर करने के तथा विद्यार्थियों और साधुओं को पढ़ाने के निमित्त इतने वर्षोंतक रहना भी हुआ। लेकिन अब अगर यहाँ पर स्थायी रह कर जमावट की जाय, तो इतने लंबे श्रम और मुसाफिरी का फल अल्प ही होगा।'

इन सब बातों का विचार करके, मगध और बंगाला के विशाल प्रदेश में, जहाँ कि तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, केवल एवं मोक्ष कल्याणक हुए हैं, विचरने का आपने निश्चय किया। इसमें प्रधान दो कारण थे। ऐसे पवित्र तीर्थभूमियों की यात्रा का और उन देशों के लोगों को जैन धर्म-दया धर्म से परिचित करानेका। इन दोनों प्रकार के उच्च आशयों को हृदय में स्थापित कर आपने संवत् १९६२ के चतुर्मास के समाप्त होते ही बनारस से विहार कर दिया।

विहार के प्रसंग में, पाठशाला के समस्त विद्यार्थी आपके साथ पैदल ही चलने को तय्यार हुए। विद्यार्थियोंने, विहार में पैदल चलना, भूख-तृषा सहन करना इत्यादि इत्यादि कष्टों को सहन करना स्वीकार किया, परन्तु पाठशाला में रह कर गुरुविरह के कष्ट को सहना मंजूर नहीं किया। इसका कारण यही था कि—आपके उपदेश से—आपके दर्शन से विद्यार्थियों को इतना सुख मिलता था कि—वे अपने घर के सुखोंको, माता-पिता के प्रेम को भी भूल गये थे। साथ ही साथ वे (विद्यार्थि लोग) अपने इस कर्तव्य को भी समझे हुए थे कि—'गुरुश्रीका ऐसे प्रदेशों में विचरना होगा कि—जिन प्रदेशों में, आपको आहार—पानी के लिये महान् कष्ट उठाने पड़ेंगे। इस अवस्था में साथ रहना ही अपना कर्तव्य है'।

इस कर्तव्य के पालन करने की उत्कट अभिलाषा से विद्यार्थियों ने साथ चलने के लिये बहुत विनति की। परन्तु जिन देशों में जाना

था, वे देश जैन संप्रदाय से रहित तथा विकट थे। अत एव जो कष्ट मुनिओं को सहन करने के थे, वे इन छोटे २ बालकों के लिये सर्वथा असह्य थे। दूसरा यह भी कारण था कि—अगर समस्त विद्यार्थी साथ में चलें, तो उनके अभ्यास में भी बड़ा आघात पहुँचने का संभव था। इन कारणों से आपने बड़े २ ऐसे २० विद्यार्थियों को साथ में लिये, जोकि रास्ते में कष्टों को भी सहन करसकें, और यथासमय अपने अभ्यासको भी सम्हाल सकें। बाकी के विद्यार्थियों को यह समझा कर रख दिये कि—'तुम सब को पटना (पाटलिपुत्र) कि, जहाँ से तीर्थों की यात्रा शुरू होती है, वहाँ बुलालेंगे।' साथ ही साथ, रहे हुए विद्यार्थियों को, पठन—पाठन में खूब उद्यम करने का उपदेश भी दिया।

बीस विद्यार्थि तथा ४ साधु-शिष्यों के साथ आपका विहार शुरू हुआ। महाराजा काशीनरेश तथा कोटीश बाबू मोतीचंद जी अजमतगढ़ वाले ने विद्यार्थियों को मुसाफरी के सुख रूप तंबू वगैरह साधनों की भी समस्त प्रकार से अनुकूलता करदी। विद्यार्थियों को बनारस के कलेक्टर साहब की तर्फ से एक ऐसा पास भी मिल गया कि—महाराजश्रीके साथ विद्यार्थी लोग जहाँ जहाँ जाँय, वहाँ की पुलिस इनकी समस्त प्रकार से रक्षा करे।

बनारस से विहार कर पहिले पहल आपने मगध देश में प्रवेश किया। यह मगध देश वही है जहाँ चौवीसवे तीर्थंकर महावीर देव का जन्म हुआ था। यह वही मगधदेश है जहाँ श्रेणिक, अजातशत्रु (कोणिक) चेडा तथा उदायन वगैरह जैनराजे हो गये हैं और यह वही मगध देश है, जहाँ गौतमादि ४४०० चऊवालीसो ब्राह्मणों को उपदेश दे करके श्रीमान् महावीर देवने अपने शिष्य बनाए थे। यह गौतम, गौतमबुद्ध नहीं, परन्तु दूसरेही हैं। ये महावीरदेव के प्रधान शिष्य (गणधर) हुए हैं। इसी गौतमस्वामी के ५०००० शिष्य, उस जमाने में इसी मगध देश में विचरते थे। बहुत दूर की बात छोड दीजिये, ८०० वर्ष के करीब २ में भी इसी मगधदेश में जैनों का बडा भारी जोर था, परंतु ठीक है, उन्नति और अवनति का प्रवाह, सब पर अपना प्रभाव डालता हुआ चला ही

आता है। ऐसा कोई गांव नहीं, ऐसा कोई नगर नहीं, और ऐसा कोई देश नहीं, कि जिसको इन प्रवल-पराक्रमशाली परिवर्तनों में पड़ने का अवसर न प्राप्त हुआ हो।

मगधदेश में भी जैनों के लिये ऐसा ही हुआ है। आज उसी मगधदेश में वहुत जगह तो जैनों का नामोनिशान भी नहीं रहा। और पटना—विहार जैसे एकाध—दो शहरों में जैनों के कुछ घर हैं भी, तो वे आटे में नमक की तरह दस-पांच ही। अधिक खेद का कारण तो यही है कि जिस देश में जोर शोर से अहिंसा देवी की आराधना होती थी, वही सारा देश हिंसालु हो गया है। इसका प्रधान कारण यही है कि—हमारे अहिंसा धर्म के उपदेशकों का (जैनसाधुओं का) उस देश में विहार विलकुल वन्द हो गया। और विहार वन्द होने में भी खास कारण वही अपने आपस का द्वेष ही है। जिस समय मगधदेश में जैनों का जोर वढ रहा था, उस समय द्वेषी ब्राह्मणों ने जैनों पर अनेक प्रकार के कलंक लगाने शुरू किये थे। 'जैन लोग अपने मंदिरों में ब्राह्मण को काटते हैं।' इत्यादि २। वल्कि यहाँ तक भी उन्होंने वातें फैलाई थी कि-'मगध में मरे सो गधा होवे।' जैनों के कारण इन लोगों ने सारे देश पर भी ऐसा वडा भारी कलंक लगाने में कमी न रक्खी। अभी तक इस कलंक की मात्रा मगधदेश में विद्यमान है। अस्तु!

इसी मगधदेश में हमारे चरित्रनायकजी अव विचरने लगे। प्रत्येक गाँवों में जाहिर रास्तों पर खडे होकर अहिंसाधर्म का उपदेश देने लगे। क्रमशः विहार करते हुए आप आरा में पधारे। आरा में श्वेताम्बर जैनों का एक भी घर नहीं था। जो कुछ थे, वे दिगम्बर थे। परन्तु आप का सव पर समभाव होने से यहाँ के श्रीयुत वावू देवकुमार वगैरह समस्त दिगम्बर भाइयों ने वडे आग्रह से आप को कुछ दिन रक्खे, और खूव लेक्चर भी करवाए। वहाँ से आप कुछ दिनों में पटना (पाटलिपुत्र) पधारे।

पटना पहुँचने के वीच आपको वहुत कष्ट उठाना पड़ा। रास्ते में

दो तीन रास्तों के आजाने के कारण विद्यार्थि लोग अलग २ हो गये और साधु भी अलग २ हो गये। इस अपरिचित देश में इस अवस्था ने आपके मंडल के सभी मनुष्यों को बड़ी भारी चिन्ता में डाल दिये। सभी ने एक दूसरे की खोज में-तलाश में ही तीन दिन व्यतीत किये। न खाने का ठिकाना, न पीने का। जिन विद्यार्थियों के पास में ओढ़ने-बिछाने का नहीं था, उन्होंने महान् कष्टों से तीन रात्रिएं व्यतीत कीं। जो मुनिराज सर्वथा अकेले पड़ गये थे, उन्होंने बजार के, भूँजे हुए चने और चिवड़े खा २ कर तीन दिन निकाले। इस तरह एक दूसरे की खोज करते हुए तीन दिन के बाद पटने में सभी इकट्ठे हुए।

पहिले कहा जाचुका है, कि—बनारस पाठशाला के सभी विद्यार्थी आपके साथ जाने को तय्यार हुए थे, परन्तु आपके उपदेश से बहुत से पाठशाला में रह गये थे। अब यहाँ से यात्रा की भूमियाँ शुरू होने लगीं, इसलिये पाठशाला के सभी विद्यार्थियों ने विनति पत्र लिख भेजा। समय की अनुकूलता होने पर, अर्ध उपरान्त विद्यार्थि तीर्थयात्रा के लाभ से वंचित रह जाँय, यह उचित न समझ कर 'इच्छा हो वह आजाय' ऐसा जवाब दिया। बस जवाब मिलते ही सभी विद्यार्थी पटना जा पहुँचे।

इतनी मुसाफरी में आप देख सके थे कि जीव दया की इस देश में गंध तक भी नहीं है। अत एव आपने जीव दया का उपदेश ही इस देश में प्रधान रक्खा। छोटे-बड़े प्रत्येक गाँवों में (जहाँ मुकाम होता था) ऐसे विचित्र वेषधारी साधुओं को देखने से लोग इकट्ठे हो जाते थे। और उन लोगों को ' हम कौन हैं ' इसका परिचय कराते हुए जीव दया के उपदेश पर उतर जाते, और बातकी बात में सैंकडों मनुष्यों को मांसाहार का त्याग करवा देते थे। बड़े गाँवों में अक्सर करके पब्लिक सभा का ही प्रबन्ध हो जाता था। क्योंकि ऐसे प्रसंगों में आप स्कूल वगैरह प्रसिद्ध स्थानों में पहुँच जाते; और मास्टर वगैरह को मिलकर वहाँ ही उतारा कर देते। फिर वे शिक्षित लोग गाँवके लोगों को इकट्ठे करने का भी प्रबन्ध कर देते।

विहार भी आप कुछ कम नहीं करते थे। प्रतिदिन १५-२०-२५

मील आप बराबर चलते थे। इतना चलने पर भी किसी समय गाव न मिलता तो किसी पड़ाव (जंगल-वगीचे) में ही अडंगा लगा देते। (पूर्व देश में अक्सर करके बारह-पनदरह मील के फासले पर एक एक ऐसा पड़ाव होता है, जहां सैंकडों आम्रादि वृक्षों के झुंड होते हैं) ऐसे पडावों में ठहरने से साधुओं को तो कुछ नहीं, परन्तु आपके साथ जो चालीस के करीब विद्यार्थि थे, उनको अपने असबाब की रक्षा के लिए रात्रि-जागरण करना पड़ता था।

ज्यों २ आप आगे बढते जाते थे, त्यों २ तीर्थाधिराज श्रीसम्मेत-शिखर (श्रीपार्श्वनाथ हील) की यात्रा की अभिलाषा अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। परन्तु साथ ही साथ मार्ग में हिंसक प्रदेशों में विना उपदेश दिये ही यकायक चले जाना, यह आपको उचित नहीं लगता था। अतएव आशातीत दिनों को व्यतीत करके भी आप हर जगह उप-देश देते रहे। अनुक्रम से बिहार-पावापुरी-कुंडनपुर-राजगृही-गुणाया तथा क्षत्रियकुंड वगैरह मगधदेश के प्रसिद्ध २ जैन तीर्थों की यात्रा और प्रत्येक गांवों में जीवदया के उपदेश से अनेक जीवों का उद्धार करते हुए आप सम्मेतशिखर आ पहुँचे।

सम्मेतशिखर जैनों का बड़ा भारी तीर्थ है। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों इसको पूज्य मानते हैं। कारण यह है कि जैनों के माने हुए चौवीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकर इसी पहाड़ पर ध्यानारूढ होकर मुक्ति गये हैं। इस पहाड़ का अधिकार तो सब श्वेताम्बर जैनों का ही है। यह पहाड़ जैनों के लिये जितना पूज्य है, उतना ही दूसरे लोगों के लिये वहुत रमणीय-दर्शनीय भी है। जैनों के अतिरिक्त और भी हजारों लोग इस पहाड़ को देखने के लिये आते हैं। इस पहाड़ पर इस कदर औषध्यादि वनस्पतिएं होतीं हैं, जिनकी बराबरी और कोई पहाड़ नहीं कर सकता। पहाड की अलग २ शिखाओं पर छोटे बड़े मंदिर भी बने हुए हैं। गिरडीह स्टेशन से १८ मील पर यह पहाड है।

दूसरे दिन साधु तथा विद्यार्थियों ने पहाड़ पर चढकर यात्रा करना प्रारंभ किया। आपके साथ का सारा मण्डल एक साथ चढ़ता। पूर्व

ऋषियों की भावना करते हुए तथा इधर उधर के रमणीय स्थानों को देखते हुए पहाड़ पर चढ़ते। पहिले दिन इस प्रकार यात्रा करली। फिर दूसरे दिन भी सभी साथ में ही चढ़े।

कालकी विचित्र लीला है। कल तो क्या? क्षणभर के पश्चात् क्या होगा, इतना भी ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता। हमारे चरित्रनायक जी दूसरे दिन भी पहिले दिन की तरह बड़े उत्साह से पहाड़ पर चढ़े, यात्रा भी बड़े आनंद से की, परन्तु पीछे लौटते—नीचे उतरते हुए एक पाँव में रगत्रग हो गया। (एक पाँव की नस हट गई) भयंकर व्याधि होगया। मंडलके समस्त मनुष्य उदास हो गये। पाँव में सोझा भी चढ़ गया और बराबर एक महीने तक आपको बड़ा भारी कष्ट सहना पड़ा। यहाँ तक कि-आप अपने स्थान से भी अलग नहीं हो सकते थे।

ऐसे पहाड़ी मुल्क में डॉक्टर या हकीम का योग भी कैसे मिल सके?। निदान एक पहाड़ी मनुष्य ने आप की दवाई की, और उस से महीने के बाद कुछ २ आराम हुआ। तौभी आप चल तो नहीं सकते थे।

एक ओर आपको इतनी बीमारी का कष्ट तो था ही, दूसरी ओर एक और चिंता की बात आ पड़ी।

पटने से आप के साथ ४० उपरान्त विद्यार्थी हो गए थे। और वे सम्मेतशिखर तक साथ ही रहे। सम्मेतशिखर की यात्रा करने पर पहिले के बीस विद्यार्थियों के सिवाय बाकी के सभी विद्यार्थी को बनारस पीछे चले गये थे। परन्तु साथ में जो बीस विद्यार्थी रहे थे, उनके पास खाने पीने का साधन नहीं रहा। एक उदार गृहस्थ ने खरच के लिये विद्यार्थियों को जो रूपये दिये थे, वे अब खतम हो गये। कारण यह था कि-कई अनिवार्य कारणों से रस्ते ही में अधिक दिन लग गये थे।

विद्यार्थियों के पास इस तरह खरचे के नहीं रहने के कारण महाराज श्री को अधिक चिन्ता होने लगी। अब किस तरफ जाना? रास्ते में विद्यार्थि लोग क्या करेंगे? इत्यादिबातों से बहुत चिन्ता होने लगी। इस समय विद्यार्थियों ने आप से कहा:—

"गुरुदेव! आप हमारे लिये किसी प्रकार की चिन्ता न करें। आप ने हमारे पर जो असीम उपकार किया है उसके बदले में हम एक ही भव नहीं, हजारों भव तक आपकी सेवा करते रहेंगे, तब भी हम उस उपकार के बोझे से दूर नहीं हो सकते। जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं, वहाँ तक हम आपकी सेवा को नहीं छोड़ सकते। आप जिस तरफ पधारना चाहें, उसी तरफ़ हम आने को तय्यार हैं। महाराज श्री! आप चिन्ता न करें, हमारे पास जो कुछ है, वह सर्वथा व्यय कर देंगे, और जब कुछ भी नहीं रहेगा, तब आपके हम बीसों बालक आप की तरह भिक्षा मांग करके अपना निर्वाह चलावेंगे, परन्तु आपकी सेवा में ही रहेंगे।"

विद्यार्थियों की इस धीरता से महाराजश्री बहुत प्रसन्न हुए और इनकी गुरुभक्ति पर बहुत प्रेम प्रकट किया।

महाराजश्रीने, विद्यार्थियों को किसी प्रकार की तकलीफ न हो, इसके लिये एक पत्र अपने परमभक्त बम्बई निवासी सेठ वीरचन्द दीपचंद सी. आई. इ. जे. पी. को इस आशय का लिखा कि— 'विद्यार्थियों के पास खरची खूट गई है, और हमें कलकत्ते की ओर विहार करना है, इस लिये आप विद्यार्थियों को सहायता करें।'

वीरचन्द्रसेठ की आप पर पूर्ण श्रद्धा थी। पत्र पहुँचते ही सेठजी ने ५०० रु० फौरन भेजवा दिये।

इधर कलकत्ते से बाबू अमोलखचंदजी सुन्नालालजी तथा बाबू छत्रपतिसिंहजी के पुत्र श्रीसम्मेतशिखरजी की यात्रा करने को आए। यहाँ इनको महाराज श्रीके दर्शनों का भी लाभ मिला। इस प्रसंगमें आपके उपदेशामृत से, इन के हृदय में, 'ऐसे महान् पुरुष का कलकत्ते में पधारना हो तो असीम उपकार हो सके' ऐसी भावना प्रकट हुई और तदनुसार इन महानुभावों ने महाराजश्रीको कलकत्ते पधारने की विनति भी की।

समर्थ पुरुषों का लक्ष्य, सिद्धि की ओर अधिक रहता है। बेशक, इतना संभवित था कि कलकत्ते की ओर विहार करने से | कलकत्ते

जाने से बंगाले के प्रदेश में दया के—अहिंसा के संस्कार-बीज बोने का प्रसंग था, किन्तु वहाँ भी जाना किस तरह ?। क्योंकि पैर में तकलीफ हो जाने से आपसे चला तो जाता ही नहीं था। और इससे आप न तो कलकत्ते की ओर जासकते थे और न पीछे लौट सकते थे। खैर, बहुत दिनोंके व्यतीत होने पर जब आपको कुछ २ आराम हुआ, तब आपने अधिक लाभ समझ कर कलकत्ते की ओर ही विहार किया। और साथमें वेही २० विद्यार्थी तथा ५ शिष्य रहे। करीब एक महीने में आप कलकत्ते पहुँचे। रास्ते में वर्दवान वगैरह छोटे वड़े गाँवों में दो दो तीन-तीन दिन ठहर कर आप उपदेश देकर लोगों को जीवदया का स्वरूप समझाते भी थे।

कलकत्ते में शुभकार्य

कलकत्ते में ऐसा प्रसंग मिलना दुर्लभ था। जैनमुनि, और उसमें भी एक प्रसिद्ध उपदेशक महात्मा का पधारना, यह एक अमूल्य प्रसंग था। देश-विदेश से व्यापारार्थ आकर रहे हुए धनाढ्य तथा सामान्य जैनों का समूह वहां अच्छे प्रमाण में था। किन्तु उन लोगों को गुरु के उपदेश का प्रसंग कठिन था। लेकिन ऐसी अवस्था में आप जैसे प्रवल विद्वान् और जिनके उपदेश से वड़े २ विद्वान् लोग भी मुग्ध हो जाते हैं, ऐसे महात्मा पुरुष के पधारने से कलकत्ते के सभी जैन अपना अहोभाग्य समझने लगे।

वरतला स्ट्रीट में विद्याशाला के विशाल कमरे में प्रतिदिन प्रातःकाल से १० बजे तक व्याख्यान होने लगा। ज्यों २ लोगों को व्याख्यान सुननेमें आनन्द होने लगा—ज्यों २ अन्यान्य स्ट्रीटों में रहे हुए लोगों ने आप की मधुर देशना की कथा सुनी, त्यों २ व्याख्यान में श्रोताओं की वृद्धि होने लगी। यहां तक कि इतने बड़े कमरे में मनुष्यों को वैठने का स्थान भी नहीं मिलने लगा। जब ऐसी ही अवस्था हुई तब व्याख्यान के लिये एक दूसरा मकान केनिंग स्ट्रीट में सेठ हनुमान-

सिंह लक्ष्मीचन्द्रजी का मुकरर हुआ और वहां ही प्रतिदिन व्याख्यान होने लगा। आपके प्रतिदिन के व्याख्यान में जैन ही नहीं, और भी धर्मवाले-समाजवाले, एवं बड़े २ विद्वान् बंगाली भी आया करते थे। रायबहादुर बुद्धिसिंहजी दुधेड़िया वगैरह अजीमगंज के कई महाशय खास आपके व्याख्यान सुनने की अभिरुचि से ही कलकत्ते में चार महीने रहे थे।

यह तो हुई आपके प्रतिदिन के व्याख्यान की बात। परन्तु आप के दिये हुए पब्लिक व्याख्यानों की कथा भी खास जानने लायक है। इस तरह प्रतिदिन आप एकही स्थानपर व्याख्यान देते थे, इससे ही आपने संतोष नहीं मान रक्खा था। जब कभी आप रायसाहेब बद्रीदासजी के बगीचे में दर्शनार्थ पधारते थे, तब वहाँ ही तालाब के किनारे पर खड़े होकर व्याख्यान देने लग जाते थे, और मंदिर को देखने के लिये आते हुए सैंकड़ों बंगालियों को 'जीवदया' का पाठ सिखाते थे। कभी आप हवड़े की ओर चले जाते थे, तो वहाँ ही सड़क के किनारे पर खड़े हो जाते थे, और घंटे आध घंटे मनुष्यों को उपदेश देते थे।

मकान के कोने में बैठकर अहिंसा धर्म के प्रचार की अभिलाषा रखने वालों के लिये आपकी यह पद्धति अनुकरणीय है। जिन्हों ने जगत् में परोपकार करने ही के लिये जन्म धारण किया है—साधुपना लिया है, वे ऐसे खुले रास्तों पर उपदेश देना और अच्छे सजे-धजे टौनहाल के प्लेटफार्मों पर खड़े हो कर लेक्चर देना समान ही समझते हैं। दूसरों का कल्याण करना, यही जिनका उद्देश्य है, उनके लिये उमदा २ कुरसियों और टेबलों से सज्जित किया हुआ प्लेटफार्म हो तौ भी क्या? और ऐसा रस्ता हो तो भी क्या? हमारे चरित्रनायक जी की यह उदारता सर्वथा प्रशंसयीन–अनुमोदनीय और अनुकरणीय भी है।

इस तरह आप जाहिर रस्तों पर उपदेश देकर सैंकड़ों बंगालियों को मछली-मांस का त्याग कराते थे, इसके उपरान्त, रविवार की छुट्टियों में प्रसिद्ध २ स्थानों में खास २ विषयों पर आपके व्याख्यान होने लगे। और इस लिये दो दो दिन पहिले ही शहर के तमाम विभागों में तथा

कचहरियों में नोटिसें बाँटी जाने लगीं। इससे शहर के बड़े २ विद्वान्, सभाओं में तथा आपके स्थान में आकर आपकी मुलाकात लेने लगे। डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी एच. डी. जो कि चरित्रनायक जीको गुरु मानते हैं, उन्होंने भी उसी दिन महाराजश्रीके प्रथम दर्शन किये थे, जब आपका हेरीसन रोडपर मुकीमनिवास के बड़े कमरे में व्याख्यान हुआ था। उसी दिनसे डॉ० सतीशचन्द्रजी महाराजश्री के पास आने जाने लगे, और जैनन्याय का अभ्यास भी डॉक्टर साहेब ने आप के पास ही किया। तथा आपही के उपदेश से सतीशचन्द्र जी ने मच्छली-मांस का त्याग भी कर दिया।

कलकत्ते की बङ्गीयसाहित्यपरिषद् में भी आपके आधिपत्य में जैन-न्याय' और 'जैन धर्म' पर डॉ० सतीशचन्द्रजी ने तथा 'वाणी' के सम्पादक बाबू अमूल्यचरण घोष ने व्याख्यान दिए थे, उन समयों पर बड़े २ महामहोपाध्याय, साहित्यचक्रवर्ती इत्यादि पदवीधर विद्वान् लोग तथा और भी रईस हाजिर थे। आपके अधिपतित्व के दोनों व्याख्यानों का प्रभाव ऐसा पड़ा कि कई विद्वानों ने खड़े होकर आपकी मुक्त कण्ठ से तारीफ की। इन सभाओं में कई बङ्गालियों ने मत्स्य मांस का आहार भी त्याग कर दिया था।

आपको जीवदया के सिद्धान्तों को व्यक्तिगत ठसाने में बुद्धि की दीर्घ कसौटी में से उत्तीर्ण होना पड़ता था। जिसपर मनुष्यों को असाधारण रुचि-प्रेम हो—जिसके नित्यव्यवहार से हिंसा की ओर जरासा भी त्रास न हो-हृदय की दयामयी भावनाएं नष्ट हो गई हों—और 'मांस मछली भी खास खाद्य पदार्थ है', ऐसे दृढ़ संस्कार जम गये हों, ऐसे कठिन संस्कारी मगजोंमेंसे उसकी जड़ उखाड़ कर, दया के अंकुरों का प्रादुर्भाव करना, जितना कठिन था, उतना ही, बंगाल के विद्वानों को उनके ही धर्मशास्त्रों से तथा युक्तियों से अहिंसा का प्रतिपादन कर, समझाना भी कठिन था। मनुस्मृति-महाभारत वगैरह धर्मशास्त्रों को जानने वाले बहुत से विद्वान्

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥ १॥

इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों को आगे धरकर 'मनुजी ने मांस खाने में दोष नहीं कहा है' इस बात पर आप से वाद भी करने को उद्यत हो जाते थे। लेकिन आप युक्ति के साथ इसका भी प्रतिकार यों करते थे:- "इस श्लोक का अर्थ यदि यही रक्खा जाय कि-मांस खाने, मद्य पीने और मैथुन सेवन में दोष नहीं है ? तो इस श्लोक का पूर्वार्ध, उत्तरार्द्ध से संघटित नहीं हो सकेगा। क्योंकि उत्तरार्द्ध में तो निवृत्ति बहुत फल वाली दिखलाई। लेकिन, यहाँ विचार करने का विषय है कि यदि प्रवृत्ति में दोष न होता, तो निवृत्ति में महाफल होता ही कैसे ? अर्थात् यदि प्रवृत्ति सदोष ठहरेगी, तब ही तो निवृत्ति में महाफल सिद्ध हो सकेगा ? लेकिन यह बात इस श्लोक से तब ही निकाल सकते हैं-सिद्ध कर सकते हैं कि-जब इसका अर्थ वास्तविक-जैसा चाहिये वैसा किया जाय। अर्थात् इसका अर्थ यों करना चाहिये:—'न मांसभक्षणे दोषो' इस पद में 'मांसभक्षणे' और 'दोषो' इन दो शब्दों के बीच में 'अ' कार का लोप हुआ है। ('एदोतः पदान्तेऽस्य लुक्' सिद्धहेम, १-२-२७)

अब इसका अर्थ यही होगा कि-'मांसभक्षण में अदोष नहीं, किन्तु दोष ही है। वैसे मद्यमें भी अदोष नहीं, किन्तु दोष ही है। और मैथुन में भी अदोष नहीं, किन्तु दोष ही हैं, क्योंकि प्राणियों की अज्ञानजन्य प्रवृत्ति है, यदि निवृत्ति करें, तो महाफल है। यह तो है इसका वास्तविक अर्थ। परन्तु यदि 'प्रवृत्ति में दोष नहीं है, किन्तु निवृत्ति में फल है', ऐसा अर्थ किया जाय, तो यह अर्थ किसी बुद्धिमानको जचेगा ही नहीं। यदि पिछला अर्थ प्रामाणिक-मान्य किया जाय, तब तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि—

क्रोधे लोभे तथा दंभे चौर्ये दोषो नहि नृणाम्।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥
पैशुन्ये परनिंदायां माने दोषभ्रमोऽपि न।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ २ ॥
असत्ये दोषसत्ता न देवाज्ञाखण्डने तथा।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ३ ॥

क्रतघ्नत्वे न वै दोषो मिथ्याधर्मोपदेशके ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ४ ॥
विप्रघाते च नो दोषो गोवधे नृवधे तथा ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५ ॥
श्राद्धाऽकृतौ न स्याद् दोषो विस्मृते चात्मकर्मणि ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ६ ॥

अर्थात् ऐसे २ कार्यों के करनेमें भी दोष नहीं लगना चाहिये । यदि ऐसी वातें भी प्रामाणिक मानीं जाँय, तो संसार में पाप का सर्वथा अभाव ही हो जाय ।"

इत्यादि युक्तियों से आप समझाते थे ।

कलकत्ते में कालीमाता के सामने पशुवध करने का भी रिवाज वहुत है । इसलिये आप को इस कुरिवाज को दूर कराने का भी प्रयत्न करना पड़ता था । और इसमें भी वहुत से ऐसे झगड़े उठाते थे कि—

"पशुपुष्पैश्च गंधैश्च" पशु-पुष्प-गंध करके माता की पूजा करनी चाहिये । ऐसा दुर्गासप्तति में कहा है । " इसका भी समाधान आप ऐसा करते थे कि-"जैसे पुष्प की पूजा, अखण्ड पुष्प चढ़ा कर करते हैं (अर्थात् पुष्प की पत्तियाँ अलग २ नहीं कर देते हैं ।) वैसे ही पशु से पूजा भी करनी चाहिये । अर्थात् माता के सामने उस पशु को अभय कर देना चाहिये ।

एक दफे रायवहादुर रामदाससेन सान्याल जीऑलोजिकल गार्डन के सुप्रीन्टेन्डेन्ट आपसे मिले । अहिंसा के विषय में जब आप उपदेश देने लगे, तब सुप्रीन्टेन्डेन्ट साहव ने कहा:—'महाराज ! जीवहिंसा की अपेक्षा; झूठ वोलने में महान् पाप हैं । महाराजश्रीने कहा—'जीवको मारना' इसीका नाम हिंसा नहीं है । क्योंकि जीव तो कदापि मरता ही नहीं । जीव, अच्छेदी-अभेदी-अनाहारी-अकषायी-अतीन्द्रियादिक विशेषण विशिष्ट है । हम हिंसा के लिये यहाँ तक कहते हैं कि-'द्रव्यबुद्ध्या

अन्यस्य दुक्खोत्पादनं हिंसा' द्वेषबुद्धि से दूसरे को दुःख उत्पन्न करना, इसीका नाम हिंसा है। अब विचार करिये कि झूठ बोलने से क्या दूसरे को दुःख उत्पन्न नहीं होता है? होता ही है। और जब दुःख होता है तो फिर समझ लीजिये कि—इसीका नाम भी हिंसा है। हिंसात्याग के उपदेश में, जितने पाप कारण हैं, सभी विचार करने से आजाते हैं। अत एव जिस २ कार्य में हिंसाजन्य दोष का आविर्भाव है, उन सभी कार्यों का हम निषेध करते हैं।'

इस चर्चा का फल यह हुआ कि-सुप्रीन्टेन्डेन्ट साहब ने मछली-मांस का खाना सर्वथा छोड़ दिया।

अहिंसा के विषय में आप, युक्तियाँ और शास्त्र प्रमाण ऐसे देते हैं कि-एक दफे तो आपके आगे वादी को चुपही रहना पड़ता है। इसी अहिंसा के विषय पर आपने 'अहिंसा दिग्दर्शन' नामक पुस्तक भी बनाया है।

कलकत्ते में डॉक्टर सुबोधचन्द्रदास एल. एम. एस. डॉक्टरी विद्या में बहुत कुशल, अनुभवी तथा बुद्धिमान थे। आप महाराजश्रीके पास आया जाया करते थे। महाराजश्रीके पास में जो मुनिमण्डल तथा विद्यार्थी थे, उनकी शारीरिक सम्हाल आप बराबर लिया करते थे। और समय मिलने पर महाराज श्रीके साथ धर्म चर्चा भी खूब करते थे। चर्चा के परिणाम में डॉक्टर साहब को पूर्ण श्रद्धा हुई। आपको यह निश्चय हुआ कि—'आत्मकल्याण के लिये अगर कोई धर्म है तो वह जैनधर्म ही है।' महाराजश्री कलकत्ते में बिराजे वहाँ तक आपने 'जीवविचार' 'नव तत्त्व' आदि जैन प्रकरणों का अभ्यास भी कर लिया। और सन्ध्यादि क्रिया भी जैनधर्म की ही करने लगे।

कलकत्ते में आपके हाथ से एक और भी महत्त्व का कार्य हुआ। बनारस पाठशाला से मुक्त हुए, जो विद्यार्थि आपके साथ में थे, उनमें से कुछ विद्यार्थियों की इच्छा बहुत दिनों से दीक्षा लेने की थी। महाराजश्रीकी विनति भी बहुत दिनों से किया करते थे। इन विद्यार्थियों को दीक्षा देने का विचार भी आपने यहाँ का (कलकत्ते) ही रक्खा।

कलकत्ते के जैन संघने इनका दीक्षोत्सव बड़े उत्साह के साथ शुरू कर दिया। महाराजश्रीने दीक्षोत्साही विद्यार्थियों के वैराग्य की दृढता के लिये यही उपदेश दिया कि—

" इस संसार का स्वरूप इन्द्रजाल, विद्युत् चमत्कार तथा संध्या के रंग समान है। मनुष्यों को हमेशा के लिये सुख स्थिति नहीं रहती। किसीको स्त्री का तो किसी को पुत्र का, किसी को द्रव्य का तो किसी को माल मिलकत का, तथा किसी को शत्रुके संयोग का तो किसी को मित्र के वियोग का, ऐसे एक न एक दुःख हमेशा मनुष्यों को रहते ही हैं। ऐसे दुःखों से मुक्त होकर आनंद रसमें मग्न रहना, यही मनुष्य जन्म-उत्तम कुल-उत्तम क्षेत्र-तथा देव-गुरु-धर्म के प्राप्त करने का फल है। अन्यथा तो पशु भी अपने जीवन का निर्वाह ज्यों त्यों करही लेते हैं।

भाइयो ! संसार में सुख की सद्भावना करने वाला मनुष्य महामोह की धूर्तता में फंसता है। सत्य में से ही सत्य पदार्थ की प्राप्ति होती है। इस लिये वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिये चारित्र धर्म की आराधना ही सर्वोत्तम है।

याद रखिये कि—जीवन की स्थिति हमेशा के लिये एक समान नहीं रहती। देखिये, बीज बोया जाता है। अंकुर निकलता है। वृक्ष होता है। पुष्प लगते हैं। फिर फल होते हैं। पकते हैं और अपने आप सूख कर गिर भी जाते हैं। इसी तरह स्त्री हो पुरुष हो, पशु हो पक्षी हो, रंक हो राय हो, सेठ हो साहुकार हो, सभी के लिये यह नियम उपस्थित है। जीव गर्भ में आया। उत्पन्न हुआ। कुछ बड़ा हुआ। तारुण्य प्राप्त किया। संसार चलाया। फिर आई वृद्धावस्था। बस, कहना ही क्या ? शक्ति क्षीण हुई। आंखों का तेज घट गया। काल ने घेर लिया और समाप्त हुआ। बस, अधिक में अधिक मनुष्यों की यही स्थिति है। अत एव इस मल-मूत्र-विष्ठा से भरी हुई काया से कुछ न कुछ साधन कर ही लेना चाहिये।

तत्त्ववेत्ताओं ने संसार को बुलबुले के समान कहा है। नदी के प्रवाह में बुलबुले नजर आते हैं। वे थोड़ी दूर जाते ही नष्ट हो जाते हैं, और फिर नजर आने लगते हैं। इसी तरह यह जीव भी

"पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।" का बार बार चक्रभ्रमण किया ही करता है । लेकिन एक दफे ऐसे ही मृत्यु के मुख में प्रवेश करना चाहिये, कि फिर कभी न पैठने का और न निकलने का समय ही आवे ।

अब देखिये, संसार में सुख के अभिलाषी सभी हैं । कौन सेठ कौन साहुकार, कौन राजा कौन महाराजा, यावत् इन्द्र-चन्द्र-नागेन्द्र भी सुख की इच्छा रखते हैं । लेकिन वास्तविक सुख के अपूर्व आनन्द का कौन अनुभव करता है ? इसके लिये तो यही कहना पड़ेगा कि—

"सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः"

इस लिये ऐसे एकान्तजीवी संसार से विरक्त मुनि हो जाओ कि—अपूर्व आनन्द का आस्वाद मिले ।"

इस प्रकार के उपदेश से उनके वैराग्य को दृढ़ करके पांचो को एक साथ दीक्षा दी । उनके नाम सिंहविजयजी, गुणविजयजी, विद्याविजय, महेन्द्रविजयजी तथा न्यायविजयजी रक्खे । इनके दीक्षोत्सव में कलकत्ते के जैनसंघ ने करीब १०००० दस हजार रुपयों का व्यय किया । जिससे शासन की बड़ी भारी प्रभावना हुई ।

महाराजश्रीके साथ में, यहां तक मुनिराज श्रीइन्द्रविजयजी, मुनिराज मंगलविजयजी — मुनिराज भक्तिविजयजी वगैरह साधु-उपदेशक थे, इनमें उपर्युक्त साधुओं की वृद्धि होने से—उपदेशक मंडलमें अभिवृद्धि होने से जैनतत्त्वों के समझाने में और अधिक अनुकूलता हुई । और इसका फायदा दृष्टिगोचर होते ही एक नया विचार आपको उत्पन्न हुआ ।

'बोले उसके बोर बिकें' इस कहावत पर विचार करते हुए आपको मालूम हुआ कि—"किसी भी प्रकार के विचारों के प्रचार करने के लिये सब से अच्छा साधन 'उपदेशक' हैं । बंगाल तथा मगध जैसे विशाल हिंसक प्रदेशों में उपदेशकों के भेजने से हजारों मनुष्य शुद्धाहारी हो सकते हैं-अहिंसाधर्म का प्रचार हो सकता है । इन देशों की यह हिंसक प्रवृत्ति यकायक नहीं दूर हो सकती, इसके लिये बहुत समय तक उपदेश कर सकें, ऐसे अनेकों उपदेशकों की आवश्यकता है । ऐसे उप-

दर्शको के लिये प्रथम किसी शान्तस्थल में एक गुरुकुल खोला जाय, और उसमें सैकड़ों विद्यार्थियों को तत्त्वज्ञान दिया जाय, उसमें से ऐसे उपदेशक तय्यार हो सकते हैं।"

इस विचार को, आपने विचार में ही न रक्खा, किन्तु कार्यसिद्धि के लिये आर्थिक सहायता देनेवाले पहिले आपने तय्यार किये। और स्थान आप ने पावापुरी का पसंद किया। शुरु शुरु में रु० ८५० मासिक खरचे का बन्दोबस्त हो गया। जिनमें वम्बईवाले आपके परमभक्त दानवीर सेठ वीरचन्द दीपचन्द्र सी. आई. ई. जे. पी. ने मासिक रु. २५०), मुर्शिदाबादवाले रायबहादुर बुद्धिसिंहजी दुधेडिया ने मासिक रु० १००) तथा कलकत्तेवाले बाबू माधवलालजी दुगड़ ने रु० १००) देने स्वीकार किये थे।

साहसवृद्धि

एक विद्वान् का कथन है कि—'साहस भी वीरता का एक प्रधान अंग है। साहस से शारीरिक बल का अभिप्राय नहीं है, परन्तु मानसिक बल से है। कष्टों से डर कर उत्साह को दबा देना, इसमें एक मानसिक दुर्बलता ही कारण है। कलकत्ते तक के विहार से आप देख सके थे—अनुभव कर सके थे कि—बंगाल में विचरना जैन साधुओं के लिये कितना कठिन कार्य है और साथ साथ यह भी आप समझ सके थे कि—अन्य देशों की अपेक्षा इस देश में उपकार कितना हो सकता है ?। अर्थात् जितनी विहार की कठिनाइयां देखीं, उतनी ही लाभ की विशेषता भी देखी। बंगाली लोगों की बुद्धिमत्ता-सरलता-जिज्ञासुता-नम्रता तथा साधुभक्ति बहुत ही प्रशंसनीय देखी, और इन गुणों के कारण से वहां उपदेश का असर शीघ्र होता था।

इन सब बातों को विचार कर, आप ने कलकत्ते से सीधे पीछे लौटना उचित न समझ कर, बंगाल के और प्रदेशों में भ्रमण करना शुरू किया।

आपके इस साहस ने तो कमाल ही कर दिया। अब आपको जिस प्रदेश में विचरना था, वहां की हिंसा का वर्णन करना क्या है, मानो अपने कोमल हृदय को पत्थर सा बनाना है। सांप-मूसे और खटमल जैसे प्राणियों को खा जानेवाले मानुषी राक्षस वहां मौजूद थे। खैर तो भी आप ने 'परोपकाराय सतां विभूतयः' इस कथन को स्मरण में रख, अपना विहार आगे बढ़ाया।

उस तरफ विहार करने में आपके दो उद्देश्य थे। एक उस तरफ़ के लोगों को उपदेश देकर शुद्धाहारी बनाने का। और दूसरा उस तरफ के धुरंधर विद्वानों के समागम करने का। कलकत्ते तक प्रायः सभी विद्वानों से आपका समागम हो चुका था। अब आपके मन में यह था कि—नदिया-शान्ति (नवद्वीप), कि जहां के नैयायिक, भारतवर्ष में क्या ? दुनिया भर में प्रसिद्ध गिने जाते हैं, जाना चाहिये, और वहाँ के विद्वानों से मिलना चाहिये।

नदिया-शान्ति जाने में आपको बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा, कभी आपके साथ के विद्यार्थी अलग पड़ जाते थे, तो कभी साधुओं का पता नहीं लगता। जिस दिन नदिया में आप गये, उस दिन भी आपके साथ के सब आदमी विखूटे पड़ गये थे। जिन्हों में से कइयों का उस दिन रात को और कइयों का दूसरे दिन पता लगा था। आप अकेले ही एक विद्यार्थी के साथ नदिया में पहुंच गये थे। ठहरना कहां ? इसका ही पहिले तो बड़ा झमेला पड़ा। नदी के किनारे एक मकान में एक संन्यासीजी विद्यार्थियों को न्याय के ग्रन्थों को पढ़ा रहे थे, वहां आप चले गये। संन्यासीजी ने आप को देखने के साथ ही कहाः—'महात्माजी ? आप यहां कहां से ?' महाराजश्री भी संन्यासीजी को पहचान गये। आप दोनों का समागम इलाहाबाद में कुंभ के मेले के समय सनातनधर्म महासभा के अधिवेशन में हुआ था। संन्यासीजी ने कहाः—'महात्माजी ! इलाहाबाद में, आपने दिया हुआ व्याख्यान अभी तक मेरे स्मरण पथ से दूर नहीं गया है। आपकी उस प्रभावशालिनी देशना ने मेरे पर बड़ा भारी प्रभाव डाला था। आज अहो भाग्य है कि—आपके पुनः दर्शन करने का सौभाग्य मिला'।

महाराजश्री ने अपने समुदाय के बिखूटे हो जानेकी सब बातें कही। सन्यासीजी ने आप को ठहरने के लिये सारा प्रबन्ध करवा दिया। और विद्यार्थियों के लिये भी सब प्रबन्ध कर दिया।

दूसरे दिन शाम तक आपके मण्डल के सभी साधु-विद्यार्थी नदिया में इकट्ठे हो गये। तीसरे दिन नवद्वीप के विद्वानों के साथ ज्ञान गोष्ठि करना प्रारंभ किया। और साथ ही साथ वहां की पाठशालाओं, जिनको बंगाल में टोल कहते हैं, का निरीक्षण भी किया। पाठशालाओं के निरीक्षण करने का प्रधान उद्देश्य—'इस देश में संस्कृत अभ्यास की प्रणाली कैसी है?' यह देखने का ही था।

नवद्वीप के प्रायः सभी विद्वानों से आपका समागम हो चुका। 'काशी से आए हुए एक विद्वान् जैनसाधु अमुक धर्मशाला में ठहरे हैं' ऐसी प्रसिद्धि गांव में हो गई, जिससे विद्वान् लोग धर्मशाला में ही आने लगे। इस तरह नवद्वीप के और सब विद्वानों से आप मिल चुके, अब उन दो महामहोपाध्यायों से मिलना बाकी था, जिनकी बराबरी करनेवाले न्यायशास्त्र के विद्वान् भारतवर्ष में इने गिने ही होंगे। इनके नाम थे, महामहोपाध्याय यदुनाथसार्वभौम, तथा महामहोपाध्याय राजकृष्णतर्कपंचानन। जिस दिन इन दोनों महामहोपाध्यायों से समागम हुआ, उस दिन प्रायः बड़े २ सभी विद्वान् इकट्ठे हुए थे। शुरु से षड्दर्शनों के विषय में करीब डेढ़ घंटे तक चर्चा-वाद हुआ—विचारों की लेनदेन हुई। पश्चात् महाराजश्री ने पंडितों से कहाः—

"नवद्वीप संस्कृत विद्या का-विशेषकर न्यायशास्त्र का केन्द्रस्थान गिना जाता है। और वास्तव में है भी ऐसा ही। इस देश में हमारे जैनसाधुओं का-जैन धर्मोपदेशकों का घूमना नहीं होता है। और इससे जैनधर्म के विषय में लोगों को अनेकों प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो रहे हैं। अत एव हम चाहते हैं कि—आप लोग अगर प्रबंध करके एक सभा करें, तो मैं 'जैनतत्त्वज्ञान (जैनफिलासोफी) के विषय पर एक व्याख्यान दूं। आप लोग कभी ऐसा खयाल न करें कि किसी को विप्रतिपत्ति हो, ऐसा बोलूंगा। नहीं, 'द्वेषबुद्ध्याऽन्यस्य दुःखोत्पादनं हिंसा'

यह मेरा सिद्धान्त है। और साथ में यह भी कह देता हूं कि आप लोग खुशी से जैनधर्म का खंडन भी करें।"

आपके इस बचन को सुनते ही महामहोपाध्याय यदुनाथ सार्वभौम जी ने कहा:—

"महात्माजी, सत्य वस्तु का खंडन कभी हो ही नहीं सकता। और जो खण्डन करे, वही खंडित है। हम लोगों को शास्त्रों के देखने से मालूम हुआ है कि—जैनधर्म अन्य मत-मतान्तरों की तरह नाम मात्र का नहीं, किन्तु अनादि और हिंसा को संपूर्ण रीत्या मान देनेवाला पवित्र धर्म है। शास्त्रों में जिस समय आचार्योंने खंडन-मंडन की युक्तियां लगाई हैं, उस समय वास्तव में जैन युक्तियों की ही प्रबलता देखने में आती हैं। अब ऐसी अवस्था में हम लोग जैन धर्म के तत्वों का खंडन क्या कर सकते हैं?"

अन्त में - विसर्जन होने के समय पंडितों ने आप की विद्वत्ता की बड़ी ही तारीफ की।

नदिया में कुछ दिन रहकर फिर आप मुर्शिदाबाद (अजीमगंज) पधारे। महाराजा [illegible]रसिंहजी, रायबहादुर बुद्धिसिंहजी दुधेडिया वगैरह बड़े २ नामी बाबूसाहबों ने आपके व्याख्यान सुनने का लाभ खूब उठाया। यहां भी जाहिर व्याख्यानों से कई बंगालियों ने मांसाहर त्याग किया। अजीमगंज से आप भागलपुर पधारे। भागलपुर में कई ब्रह्मसमाजी तथा कोर्ट के अधिकारियों के आग्रह से दो दिन तक 'कर्म फिलासोफी' पर व्याख्यान दिये। यहां से फिर आप पावापुरी पधारे। जहां कि,आपने गुरुकुल स्थापन करने का निश्चय किया था।

पावापुरी बिहार से छः मील पर दाक्षिण में है। पचीस सौ वर्ष पर इसका नाम अपापापुरी था। परन्तु परमात्मा महावीर देव के निर्वाण के बाद इसका नाम 'पापापुरी' पड़ा। पश्चात् अपभ्रंश होते २ इसको लोग पावापुरी कहने लगे। यहां के जल-हवा बहुत अनुकूल और स्थान भी अत्यन्त रमणीय है। जंगल के बीच बड़े २ मंदिर और धर्मशालाएं मौजूद हैं। एक बहुत पुराना मंदिर तो बड़े तालाव के बीच में ही है।

इस पावापुरीमें ही आपने गुरुकुल करने का निश्चय किया। यह गुरुकुल इस उद्देश्य से नहीं स्थापन करने का निश्चय किया था कि–जैन लड़कों को ही पढ़ाया जाय। नहीं, आपका यह इरादा था कि—'मगध ही के २००-५०० गरीब ब्राह्मण बालकों को इकट्ठे करके पढ़ाये जाँय, और उनको अहिंसाधर्म के सदाचार की सच्ची तालीम दी जाय। निदान उन्हीं बालकों में से कतिपय सच्चे उपदेशक तय्यार हो जाँ', और वे अपने देश को सुधारें।' बस, यही अभिप्राय इस गुरुकुल के स्थापन करने का था।

इस गुरुकुल का कार्यारंभ अभी नहीं किया था, परन्तु किस प्रणालि से इसको चलाना? इसके विचारों का संग्रह करना, आपने शुरु किया था। और साथ साथ नजदीक २ के गाँवों के लोगों को उपदेश भी आप देते थे।

इसके दरमियान आपने एक और कार्य भी कर लिया। कलकत्ते में जिन लोगों को दीक्षा दी थी, उनकी बड़ी दीक्षा भी यहां पर हुई। औ इस प्रसंग पर विहार के बाबू गोविंदचंदजी धन्नुलाल जी ने बड़े समारोह से उत्सव किया।

पाठशाला का पुनरुद्धार

उन्नति और अवनति का प्रवाह सब पर अपना प्रभाव डालता ही चला आता है। ऐसा कोई गांव-नगर-देश-समाज-धर्म या स्थान नहीं है कि जिसको इन दो प्रकार के प्रबल-पराक्रमशाली परिवर्तनों में पड़ने का अवसर न प्राप्त हुआ हो। संसार में दीर्घदृष्टि पूर्वक देखने से मालूम होता है कि—प्रत्येक वस्तुओं में परिवर्तनशीलता रही हुई है। जिस सूर्य को प्रातःकाल में हम उदयाचल पर देखते हैं, उसी को शाम होते २ अस्ताचल की अदालत में देखते हैं। जिन वृक्षों को हम सुगंधित पुष्पों और नये पत्तों की हरियाली से मनोहर अवस्था में देखते हैं, उन्हीं वृक्षों की, किसी समय में, कोई सामने भी न ताके, ऐसी अवस्था

आ जाती है। नदी के प्रबल वेग में जो बुलबुले दिखाई देते हैं, वे भी अदृश्य हो जाते हैं, और थोड़ी दूर जाने पर फिर दिखाई देते हैं। एक विद्वान् लेखक का कथन है कि:—"एक मुरझाई आशा के उपरान्त दूसरी आशा दिखाई पड़ती है। एक वर्ष के उपरान्त दूसरे वर्ष का आगम और भोग हमारे ऊपर से जाता है। दिन आते हैं और जाते हैं। ज्योंही हम वर्त्तमान से परिचित होते हैं और समझते हैं कि-वह हमारे हाथ में है, वह चट व्यतीत हो जाता है और हम आगे उस भविष्य की ओर झुकते हैं, जिसका विस्तार भी वर्तमान की अस्थिरता के कारण संकुचित होता जाता है।"

कहने का मतलब कि—प्रत्येक पदार्थ में अस्थिरता-अनित्यता-परिवर्तनशीलता रही हुई है। इस नियमानुसार, जिस पाठशाला को स्थापन करने में आपको महान् श्रम उठाना पड़ा था, और जिसको सिलसिले पर लाने के लिये आपने अविश्रान्त उद्यम किया था, उस काशी की श्रीयशोविजय पाठशाला पर भी अवनति ने अपना प्रभाव जोर से डाला। जिस समय आप इस पाठशाला को छोड़ कर कलकत्ते की ओर विहार कर गये थे, उस समय इस पाठशाला में करीब ४० विद्यार्थी थे। और इन विद्यार्थियों के अभ्यासादि की व्यवस्था भी जैसी चाहिये वैसी प्रशंसनीय ही थी। परन्तु आप की डेढ़ साल की अविद्यमानता में इस पाठशाला की वड़ी ही शोचनीय अवस्था हुई। ४० विद्यार्थियों के स्थान में सिर्फ ६ विद्यार्थी रह गए। और उनके भी अभ्यास का कुछ ठिकाना नहीं। जिस पाठशाला में निरन्तर वड २ विद्वानों का, साधु संन्यासियों का आना-जाना हुआ करता था, धर्मचर्चाएं हुआ करती थीं और जहां विद्यार्थियों के पठन पाठन से सारी कोठी गूंज रही थी, वहां अब बाहर का एक आदमी भी नहीं फटकता। और न एक विद्यार्थी के पढ़ने का भी शब्द सुनाई देता है। पाठशाला की इस अवस्था ने पाठशाला के समस्त हितैषियों के हृदयों में वड़ा भारी दुःख उत्पन्न कराया। काशी के वडे २ रईस-पंडित एवं पाठशाला के और भी हितचिंतकों तक पाठशाला की दुर्दशा की आवाज पहुंची, और उन सभी के मन में यही हुआ—

सभी लोग यही कहने लगे कि बाबाजी (धर्मविजयजी) के नहीं रहने से पाठशाला टूट गई।

इधर दानवीर सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आई. ई. जे. पी. तथा सेठ गोकुलभाई मूलचन्द के पुत्ररत्न सेठ मणिभाई को भी पाठशाला की बडी भारी चिंता होने लगी कि-अब क्या किया जाय ? पाठशाला बिलकुल टूटने पर आई है। वयोवृद्ध बुद्धिमान् सेठ वीरचन्द दीपचन्द और सेठ मणिलालभाई इस बात को अच्छी तरह जान भी गये थे कि-यह पाठशाला सिवाय धर्मविजयजी महाराज के नहीं चल सकती।

एक विद्वान् का कथन सत्य ही है कि,-'हम किसी वस्तु का गुण तब तक नहीं जान सकते हैं, जब तक कि वह हमसे दूर न चली जाय।' पाठशाला के पोषक उक्त दो सेठों को ही क्यों ? सारी जैन आलम को यह विश्वास हो गया कि-संस्कृत-प्राकृत का अभ्यासक्रम ही ऐसा है, कि उसका सच्चा अनुभवी ही विद्यार्थियों को उन भाषाओं में आनन्द दे सकता है। संस्कृत-प्राकृत भाषाओं को पढ़ते २ स्वाभाविक ही विद्यार्थियों के जी उससे ऊब जाते हैं। और उसमें भी फिर वैश्य के लड़के।

पाठशाला के पोषक दोनों सेठों ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि-'आप बनारस पधारिये। और पाठशाला को उन्नति पर लाइये।'

इस समय आप कहां, क्या कर रहे थे ? पाठक जानते ही हैं। उपदेशकों के तय्यार करने के उद्देश्य से बिहार के पास पावापुरी में गुरुकुल के स्थापन कराने की कोशिश कर रहे थे। बनारस पधारने के लिये विनति पत्र एक पीछे एक आने लगे। विषय विचारणीय था। बड़े कठिन परिश्रमों के साथ जिस पाठशाला को स्थापित किया था, उसी पाठशाला की अवनति, अवनति क्या ? जड़ से उखड़ती हुई देखना, यह आपके लिये बिलकुल अशक्य हो गया। और 'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति' इस वाक्य को स्मरण कर सेठ वीरचंद दीपचंद तथा सेठ मणिलालभाई की विनति को स्वीकार कर लिया। और सब कार्यों को छोड़ बनारस जाने का निश्चय किया।

गरमी का समय था। जोर से गरमी पड़ रही थी। इधर एक मुनि-

राज भी बीमार थे। अत एव आप एकाएक बनारस नहीं आ सकते थे। इस लिये पहिले आपने अपने पांच शिष्यों और कितनेक विद्यार्थियों को बनारस की तरफ विहार करवाया।

कुछ दिनों के बाद आपने भी बिहार से बनारस की ओर विहार किया। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि', ऐसे शुभकार्य के लिये आते हुए भी पटने आते २ आपके उसी पाऊँ की नस अपने स्थान से हट गई, जिस पाऊँ की नस सम्मेतशिखर (पार्श्वनाथहील) पर हट गई थी। इस समय भी सारा पाऊँ फूल गया और बड़ा भारी विघ्न आ पड़ा। और इससे आपका १९-२० दिनों तक पटने में ठहरना हुआ। पटने के डा० जतीशचन्द्र एल. एम. एस., जो कि आपके उपदेश से आपके बड़े भक्त हुए थे, उन्होंने सच्चे दिल से आपकी दवाई की, जिसकी फीस तो क्या ? दवाई के दाम तक भी आपने गृहस्थों से नहीं लिये।

पटना-बांकीपुर-आरा होते हुए सं०१९६४ वैशाखशुक्ल तृतीया (अक्षयतृतीया) के दिन आपने बनारस में प्रवेश किया। आपका प्रवेशोत्सव बड़े ही ठाट-माठ से हुआ। महाराजा काशीनरेश के तीन हाथी-घोडेस्वार-पलटन वगैरह आपके स्वागत में शामिल थे।

आपके बनारस आने से सारे शहर के लोगों में आनन्द छा गया। अब लोगों में यह वार्ता होने लगी कि— 'महात्माजी आ गये', 'अब जैनपाठशाला का उद्धार होगा।'

दूसरे ही दिन से, 'पाठशाला की उन्नति कैसे हो ?' अर्थात् विद्यार्थियों की वृद्धि कैसे हो—अभ्यासक्रम का सुधार कैसे हो, इसकी चिंता आप करने लगे।

धीरे धीरे विद्यार्थी बढ़ने लगे। अभ्यास भी पहिले की तरह बराबर शुरू हो गया। अध्यापक बढाये गये। थोडे ही दिनों में पाठशाला जैसी थी वैसी ही हो गई। विद्यार्थी भी चालीस से पचास तक हो गये। और जो लोग पाठशाला को देखने को आते थे, वे मुक्त कंठ से आप की तारीफ़ करने लग जाते थे। पाठशाला का पुनरुद्धार होने के अनन्तर दूर दूर से कई विद्वानों ने आकर पाठशाला का निरीक्षण भी किया। और आपके

दर्शन कर कृतार्थ हुए। उन दिनों में जो २ विद्वान् पाठशाला को देखने को आए, उनमें प्रसिद्ध ये भी थेः—महामहोपाध्याय पं० भागवताचार्य बनारस, वामाचरण भट्टाचार्य तर्कभूषण तर्करत्न बनारस, महामहोपाध्याय पं० सुधाकरद्विवेदी बनारस, गवर्नमेन्ट कालेज के अध्यापक पं० जीवनाथमिश्र, मुरलीधरझा बनारस, हृदयनाथ मजमुदार, मोरीस कालेज के ७ बी. ए. क्लास के विद्यार्थी, पं० छोटालाल शर्म्मा, के. पी. जैनी, ईश्वरलाल देवशंकर वकील, गाजीपुर के कलेक्टर पं० रमाशंकर, आर. कृष्णमाचारिअर, अफसर इन् चार्ज ऑफ संस्कृत स्कूल्झ मद्रास प्रेसीडेन्सी, प्रफुल्लचंद्रघोष प्रोफेसर प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता, तथा उसी कालेज के एम. ए. क्लास के ६ विद्यार्थी, नीलमणि चक्रवर्ती प्रो० प्रेसीडेन्सी कालेज, पं० गोपालदास बरैया, सी. इलिअट के. सी. एम. जी. वाइस च्यान्सेलर आफ शेफील्ड युनिवर्सिटी तथा माजी एच. एम. कमिश्नर फोर धी ईस्ट आफ्रिका प्रोटेक्टरेट, एच. सी. नार्मन प्रो. गवर्नमेन्ट कालेज, महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी. एच. डी., रायबहादुर एस. एन. पांडे आ० मजिस्ट्रेट गाजीपुर, श्रीमान् देवकीनन्दनाचार्यजी, न्यायविशारद-न्यायाचार्य दामोदरलाल गोस्वामी, ए. वेनीस प्रीन्सीपल आफ गवर्नमेन्ट कालेज बनारस, श्रीमान् पंडितप्रवर महावीरप्रसाद द्विवेदी (सरस्वती सम्पादक), माणिक्यचंद्र जैनी बी. ए. एलएल. बी. वकील, पं० धर्मपाल एडीटर 'इन्द्र', आर. डी. बेनरजी आरक्योलोजिष्ट इन्डियन म्युझियम, भास्कर आर. प्रो. संस्कृत कालेज बरोडा, वगैरह वगैरह। इन लोगों के अभिप्रायों को देखने से मालूम हो सकता है कि—आपके पधारने के बाद पाठशाला कैसी जाहोजलाली पर आ गई।

पाठशाला में आप के आने के बाद, पहिले की तरह विद्यार्थियों को थोडे समय में विशेष और दृढ ज्ञान होने लगा, इसमें एक कारण था। आप का हमेशां के लिये यह उद्देश्य रहा करता है कि–विद्यार्थियों को इस तरह पढाने चाहियें कि जिससे उनका अभ्यास दृढ हो जावे। और जो विषय पढाया जाय वह एकही पढाया जाय, ताकि उसकी दृढता में विद्यार्थियों को विशेष श्रम न पडे। आज कल के युवकों

को प्रायः यह बात बहुत कम पसंद आती है। वे समझते हैं कि—विद्यार्थी को एक ही विषय पढाना क्या है, मानो उसके मगज को कमजोर कर देना है। लेकिन यह मन्तव्य कहां तक सत्य है? इसका बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये। एक ही साथ अनेकों विषयों का पढनेवाला विद्यार्थी अक्सर करके एक भी विषय को अच्छी तरह स्वाधीन नहीं कर सकता। खण्ड खण्ड में पाण्डित्य रखनेवाला विद्यार्थी दावे के साथ किसी के सामने टक्कर नहीं झील सकता। और उसमें भी संस्कृत और प्राकृत विद्याएं ऐसी हैं, कि उनके लिये एक ही विषय में विशेष समय व्यतीत करना पड़ता है। व्याकरण को पढनेवाला अगर साथ में न्याय भी पढेगा, तो वह एक भी विषय को संपूर्ण रीत्या हासिल नहीं कर सकेगा। हां, एक विषय को मजबूत करके फिर वह चाहे उतने विषयों को क्रमशः पढ़े, इससे जो विषय पढ़ गया है, उसको हानी नहीं पहुँच सकती। क्योंकि वह दृढ हो गया है—उसके संस्कार जम गये हैं।

एक विद्वान् कहता है कि-"आज कल के नवयुवक प्रायः ऐसा करते हैं कि-वे काव्य पढ़ते २ इतिहास पढ़ने लगते हैं, इतिहास छोड़ कर तर्कविद्या की ओर झुकते हैं, फिर उपन्यास हाथ में लेकर बैठते हैं, सारांश यह है कि-जैसे भिखमंगे एक द्वार से दूसरे द्वार पर भटका करते हैं, वैसे ही वे एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाया करते हैं-एक एक करके वे प्रत्येक विषय का पल्ला चूमते हैं, पर किसी में भी कुछ काल तक नहीं लगे रहते। इस प्रकार का पढना अध्ययन के उद्देश्य और अभिप्राय का साधक नहीं, बाधक होता है।"

चरित्र नायकजीने विद्यार्थियों के लिये ऐसी प्रणाली नहीं रक्खी थी। जिस विद्यार्थी को जो विषय पढाया जाता था, उसको उसी विषय में परिश्रम करना पड़ता था। और इससे वह अपने विषय को बहुत मजबूत करता था। और इसी के परिणाम से विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर परीक्षक बहुत प्रसन्न भी होते थे।

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य पद

योग्य पुरुषों के सत्कार करने की परिपाटी, भारत वर्ष में आज कल की नहीं, चिरंतन काल से चली आई है। जिस जिस जमाने में जैसे २ परोपकारी महात्माओं का आविर्भाव होता आया है, उस उस जमाने में उन महात्माओं को पदवियाँ प्राप्त हुई हैं। फिर चाहे वे राजा महाराजाओं से मिली हों, चाहे विद्वानों से। इतर लोगों में जाने दीजिये, जैन जाति में ही ऐसे अनेकों महात्मा हो गये हैं जिनके गुणों पर मुग्ध होकर जनसमाजने उनका उचित सत्कार किया था। जैसे उपाध्याय श्रीयशोविजयजी की विद्वत्ता से प्रसन्न होकर काशी के विद्वानों ने 'न्यायविशारद' का पद दिया था। श्रीहीरविजयसूरिजी के धर्मोपदेश से प्रसन्न होकर बादशाह अकब्बर ने 'जगद्गुरु' का टाइटल दिया था। यहाँ तक की हमारे हेमचन्द्र प्रभु जैसे प्रभावक आचार्यश्री ने 'कलिकाल सर्वज्ञ' का भी विरुद प्राप्त किया था। इसी तरह हमेशा से गुणवानों के सत्कार होते आए हैं। इस नये जमाने में भी भिन्न भिन्न प्रकार से सत्कारों के होने की रीति बराबर चल रही है। कौन नहीं जानता है कि—हमारी माननीय गवर्नमेन्ट भी उन नरत्नों को भिन्न २ प्रकार के टाइटलों से विभूषित करती है, जो सर्व साधारण कार्यों में अपनी लक्ष्मी का व्यय करते हैं।

साधु-महात्माओं का सत्कार उनकी विद्वत्ता पर हुआ करता है। वास्तव में देखा जाय तो साधु-महात्मा लोग सत्कार को नहीं चाहते हैं, किन्तु सत्कार, साधु-महात्माओं को चाहते हैं। साधु-महात्मा लोग पदवियों को नहीं चाहते, पदवियाँ साधु-महात्माओं को चाहती हैं। हमारे चरित्र नायकजी को जो पद प्राप्त हुआ, वह वैसे ही अनायास प्राप्त हुआ।

पाठकों को मालूम ही है कि—आपके काशीमें विराजने से काशी के सभी विद्वान् आपकी विद्वत्ता-परोपकारता इत्यादि गुणों से परिचित हो ही गये थे। इसके उपरान्त मिथिलादि देशों के विद्वान् भी आपको अच्छी

तरह जानते ही थे। उधर बंगाल में कलकत्ता नवद्वीप-शान्तिपुर वगैरह विद्या के पीठों में जाकर आपने अपनी विद्वत्ता का खूब ही परिचय कराया था। इन सब बातों पर विचार कर काशी के कई विद्वानों का यह विचार हुआ कि—"भारत वर्ष के रत्नसमान ऐसे विद्वान्-परोपकारी एवं कलिकाल में भी इस प्रकार के कठिन आचारों को पालन करने वाले महात्मा जी को, भारत वर्ष के विद्वानों की तर्फसे योग्य संमान होना चाहिये।

इस विचार को निश्चय कर विद्वानों ने एक संस्कृत संमान पत्र तय्यार किया, जिसमें आपको 'शास्त्रविशारद-जैनाचार्य' के पद से विभूषित करने के लिये लिखा गया। इस प्रतिष्ठापत्र-संमान पत्र पर काशी के प्रसिद्ध २ प्रायः समस्त विद्वानों ने हस्ताक्षर किये और पश्चात् कलकत्ता-नवद्वीप-शान्तिपुर-भट्टपल्ली-मिथिला आदि शहरों के विद्वानों के हस्ताक्षर करवाये। इस पदमें 'जैनाचार्य' का पद पंडितों ने इसीलिये रक्खा कि, इस पद के देने में जैन नेताओं की साग्रह सम्मति थी। जो बात आगे दिये हुए सम्मति पत्रों से पाठकों को विदित होजायगी।

इस पद के देने का दिन सं० १९६४ के भाद्रपद वदि १४ का निश्चित हुआ इस उत्सव पर आने के लिये देश-देशान्तरों में निमंत्रणपत्र भेजे गये। जब जैनों में यह शुभसमाचार फैल गया, तब लोगों ने बड़े हर्ष पूर्वक अपनी सहानुभूति प्रकट की, बल्कि जैनों के माननीय सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आइ. ई. जे. पी., सेठ मणिलाल गोकुलभाई मूलचंद, सेठ गुलाबचंद देवचंद जौहरी, 'जैन पत्र के एडीटर भगुभाई फतेहचंद कारभारी, चुन्नीलाल छगनलाल श्रॉफ वगैरह कई प्रसिद्ध गृहस्थ इस उत्सव पर पधारे भी। इनके सिवाय कलकत्ता कानपुर मिरजापुर वगैरह पूर्व देश के शहेरों से भी कई जैन इस उत्सव पर आए।

जैनों के लिये यह विषय वास्तव में हर्षका ही था। क्योंकि आप जैनों में ही नहीं, भारत वर्ष की समस्त प्रजाओं में बड़े नामी साधु थे। जैनों में संस्कृत-प्राकृत की पठन-पाठन प्रणाली को जीवन देनेवाले

भी आप थे, काशी जैसे क्षेत्र में जैन धर्म का झंडा गाड़ने वाले भी आप ही थे, और अपनी विद्वत्ता पर, भारत वर्ष के विद्वानों को मुग्ध करने वाले वर्त्तमान में कोई जैन साधु निकले हों, तो वे आप ही निकले थे। ऐसे महात्मा को मिलते हुए इस सत्कार से कौन ऐसा जैन होगा कि, जिसको अप्रसन्नता हो? यह पदवी ऐसी नहीं मिलती थी, जैसी आज कल कई महात्मा अपने आपसे लँबे चौड़े टाइटल ले बैठते हैं। अथवा निरक्षर होने पर भी अपने दो चार भोले भक्तों को समझा बुझाकर उपाश्रय के कोने में ले लेते हैं। यह पदवी आपकी विद्वत्ता पर मिलती थी, और वह जैनों ही से नहीं, भारत वर्ष के महामहोपाध्याय आदि पदवीधर विद्वानों से। इससे जैनों को और खुशी का कारण था।

महाराज बहादुर काशीनरेश, आपको-आपकी विद्वत्ता को अच्छी तरह जानते थे। काशीराज कई दफे आपका धर्मोपदेश सुन चुके थे। जब काशी राजने आपकी पदवी के विषय में सुना, तब बहुत ही खुश हुए। बल्कि पंडितों की विनति से आचार्य पदवी के जलसे के दिन सभापति के आसन को सुशोभित करने को भी स्वीकार किया और यह 'प्रतिष्ठापत्र' अपने ही हाथ से देने को मंजूर किया।

आप को जो संस्कृत प्रतिष्ठापत्र महाराजा सर प्रभुनारायणसिंह जी. सी. आइ. ई. के हाथ से दिया गया था, वह यह है:—

नमः श्रीमते नारायणाय।

आसीत् खल्वस्य भारतवर्षस्य ज्ञान-विज्ञान-भक्ति-तपः-समाधिप्रभृति-पारमार्थिकविद्याकरः पौरुष—सभ्यता—न्यायोपार्जनादिनैतिकाचाररत्नाकरो दयादाक्षिण्यादिसद्गुणध्वंसिहिंसादिविभावरीभास्करः स्थलजलाकाशगमन-त्रैकालिकमहर्घतादिविवेचनविविधशिल्पनिकर इत्यादिरूपा सनातनीयं प्रतिष्ठा। यदनुकुर्वन्तः संस्कुर्वन्तश्च यथामति विदेशस्था जनाः सभ्यतां प्रत्यपद्यन्त। परमिदानीं प्रत्यहर्हीयमानगुणे करालकालिकाले धार्मिकपौरुषा-

वलम्बिसदुपदेष्टृणां विरलतया सर्वत्र सदुपदेशपीयूषाभावेन ज्ञानोपासना-भक्तिशिल्पकलादिबहिष्कृतप्राया यत्र तत्राप्यूषरेव दृश्यते भारतीयं वसुन्धरा। यत्रत्था जना भारतभूम्यभ्युदयोपायं विमृशन्ति हस्ततले धृतवदनाः। तथापि गूर्जरदेशललामभूताः श्रीसङ्घरत्नाकरे चिन्तामणयो निरतीचार-भोजिनः **श्रीधर्मविजयमहात्मानः** श्रीश्वेताम्बरजैनसम्प्रदायावलम्बिनोऽपि सर्वमतावलम्बिजनैः सत्कृता बहिष्कृताश्च परस्परसम्प्रदायविरोधिदोषाक्षेप-कलहेभ्यः सभ्यतां पुरस्कृत्य तथोपदिशन्ति यथा जायते सर्वेषां मनसि हर्षतरङ्गोद्रेकः, न जायते च नासासंकोचकरं मालिन्यम्। निदर्शनं चात्र श्रीत्रिवेणीकुम्भोत्सवसमये उत्कलदेशतिलकायितां परमपवित्रां श्रीजगन्नाथ-पुरीमलङ्कुर्वतां श्री ६ **शङ्कराचार्याणां** विद्वभिरपि मान्यानामाध्यक्ष्ये सर्व-जनतोषकरीं देशनां देशयामासुः **श्रीधर्मविजयसाधुवर्य्याः**। यां शृण्वन्तः सर्वेऽपि लौकिकाः शास्त्रज्ञाश्च बुद्धिमन्तो दत्ततालिकाः सन्तो हर्हर्शब्द-पुरस्सरं हसन्तः प्रशशंसुर्मुक्तकण्ठाः। किं बहुना बङ्गदेशेऽपि प्रतिग्रामं विहरन्तो बोधयामासुर्जिज्ञासुजनान् धर्मतत्त्वमिति महान् हर्षप्रकर्षः। यदीदृशनिष्पक्षपातानां महात्मनां प्रादुर्भूतिर्बोभूयेत तदाऽवश्यं भाविन्यां देशस्योन्नतौ कः संदिग्धे बुद्धिमान्। किञ्च **श्रीधर्मविजयसाधुवर्य्या** एवं-भूताः सन्तोऽपि परमपुरुषार्थमवलम्बमाना निरतीचारधर्माचारैकजीवना गृहस्थबालकैः सह गूर्जरदेशाच्छ्रीपुण्यक्षेत्रवाराणसीं पद्भ्यामागत्य **श्रीयशो विजयनाम्नीं** विद्याप्रसूतिं पाठशालामतिष्ठिपन्। तत्र काशीस्थविद्वद्भिर्व-हुमानसत्कृतैर्जैनवैष्णवशैवादिसम्प्रदायावलम्बिनश्छात्रान् पुत्रवत् पाठयन्तीत्यपि प्रमोदावसरः। किञ्च व्याकरणन्यायादिशास्त्रेषु सम्यग् व्युत्पत्ति-मास्थाय जैनसिद्धान्तनिष्णाता उद्युञ्जते सर्वजैनबालकान् निष्णापयितु-मित्यपि विदुषां तोषकरमित्यादिगुणानन्दितचित्ताः श्रीभारतभूनिवासिनो विद्वांसो वितरन्ति पूर्वोक्तगुणावच्छिन्नश्रीधर्मविजयसाधुभ्यः **"शास्त्रविशारद जैनाचार्य"** इति पदवीं स्वरूपानुरूपामित्यलम्।
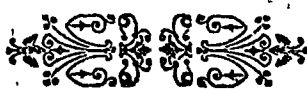
(इस प्रतिष्ठापत्र के नीचे कलकत्ता-नवद्वीप-शान्तिपुर-पूर्वस्थली-रंगपुर-भट्टपल्ली-काशी-मिथिला-हरिनगर तथा क्वैलखनगर वगैरह शहरों के प्रसिद्ध २ पदवीधर करीब सवासौ पंडितों के हस्ताक्षर हैं)

उपर्युक्त प्रतिष्ठापत्र का अनुवाद।

"अनादि काल से इस प्रकार की प्रतिष्ठा सुप्रसिद्ध है कि किसी समय यह भारतवर्ष ज्ञान-विज्ञान-तप-समाधि आदि पारमार्थिक विद्याओं का एक बड़ा आकर था। पुरुषार्थ-सभ्यता और न्यायोपार्जनादि नीति-आचार का बड़ा रत्नाकर था। दया-दाक्षिण्यादि श्रेष्ठ गुणों का नाश करने वाली हिंसादि रात्रि का सूर्य था। जल-स्थल आकाशगमन का तथा त्रैकालिक महर्घतादि की विवेचना का एवं विविध प्रकार के शिल्प का खजाना था। और जिसका स्वमत्यनुसार अनुकरण-संस्कार करती हुई विदेशी प्रजा सभ्य बनी है। वही भारतवर्ष आज पंचमकाल के प्रभाव से धर्मात्मा-पुरुषार्थी और श्रेष्ठ उपदेशकों के अभाव से उपदेशरूप अमृत की अप्राप्ति से, ज्ञान-उपासना और शिल्पकला से बहिष्कृत क्षारभूमि सा दृष्टिगोचर हो रहा है। उसी भारतभूमि की प्रजा अपने वदन को करतल में रख उन्नति के उपाय-साधन सोच रही है।

ऐसे कलिकाल में भी गुजरात देश के आभूषण स्वरूप, साधु-साध्वी श्रावक-श्राविकारूप संघरत्नाकर के चिंतामणि स्वरूप, निरतिचार (निर्दोष) आहार को लेनेवाले **श्रीधर्मविजयजी महात्मा**, स्वयं श्वेताम्बर जैन धर्मावलंबी होने पर भी सर्वमतावलंबियों से सत्कार को प्राप्त एवं परस्पर के विरोध क्लेशों से दूर रहनेवाले साधुवर्य श्री, ऐसा सरस उपदेश देते हैं कि जिससे नासा-संकोच करनेवाले को मलिनता होने के बदले में स्व-पर वर्ग के समस्त मनुष्यों के मन में हर्ष की तरंगें उछलने लगती हैं। इसके दृष्टान्त में प्रयागराज में त्रिवेणी पर कुंभोत्सव के समय उत्कल देश के आभूषणस्वरूप परमपवित्र **श्रीजगन्नाथपुरि के शंकराचार्य** की अध्यक्षता में दी हुई देशना आगे की जा सकती है। इस देशना-व्याख्यान को श्रवण कर प्रत्येकविद्वानों एवं अनेक लौकिक बुद्धिमानों ने करतलध्वनिपूर्वक अनुमोदन देकर, हर्षित-वदन से प्रशंसा की थी। इतना ही नहीं, किन्तु बंगदेश में गाँव २

विहार कर श्रीमुनिमहाराजधर्मविजयजी ने जिज्ञासुजनों को धर्मतत्त्व का अमूल्य बोध दिया था। यह सब बड़े हर्षका ही विषय है।

इस से ऐसे कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि—इस भारत-भूमि में ऐसे निष्पक्षपात और उदार आशयवाले महानुभाव यदि उत्पन्न हों, तो अवश्य भाविनी देशोन्नति में किसी प्रकार का संदेह न रहे।

ऊपर कहे हुए गुणों करके युक्त, परमपुरुषार्थी, निर्दोष चारित्र पालन ही जिनका जीवन है, ऐसे श्रीधर्मविजयसाधुवर्य, पांच वर्ष हुए, गुजराती श्रावकपुत्रों के साथ पैदल चलकर गुजरात से, काशी में आए, और विद्या प्रसारक श्रीयशोविजयजी पाठशाला को स्थापन किया है। जिस पाठशाला में बहुसम्मानित काशी के विद्वान् अध्यापकों द्वारा जैन-वैष्णव-शैवादि सर्वमतावलंबी विद्यार्थियों को पुत्रों की तरह शिक्षण दिया जाता है। आप व्याकरण-न्याय-साहित्यादि शास्त्रों में व्युत्पन्न और जैन सिद्धान्त में निष्णात होने से जैनबालकों को कुशल करने के लिये अहर्निश परिश्रम करते हैं, यह बात विद्वानों को बहुत ही संतोष जनक है।

उक्त सर्वसद्गुण-पुरुषार्थ और परिश्रमपर गुणानुरागी होकर भारत वर्ष के विद्वान् सर्वसद्गुणालंकृत मुनिमहाराज श्रीधर्मविजयजी को 'शास्त्रविशारद-जैनाचार्य' नामकी पदवी अर्पण करते हैं, जो पदवी मुनि-धर्मविजयजी के स्वरूपानुसार सर्वथा अनुकूलही है। अर्थात् विद्या-चारित्र तथा सभ्यता आदि के महाराज, जैसे भंडार हैं, वैसीही पदवी भी है।"

इस उत्सवपर कलकत्ते से महामहोपाध्याय सतीशचंद्र विद्याभूषण एम. ए. पीएच. डी. भी आए थे; और उन्होंने खास एक अंग्रेजी एड्रेस पढ़ा था, जो इस प्रकार था:—

AN ADDRESS OF WELCOME.

YOUR HIGHNESS, SADHUS & GENTLEMEN,

We are assembled this evening to congratulate Muni Dharmavijaya on the honour which has been conferred on him by Pandits of the various parts of India The honour itself is not very great if we consider the merit of the person who has received the same. The title "Sastra-Visarada-Jainacharya" of which he is the recipient signifies a Jain teacher versed in Sastras. Now, Muni Dharmavijaya, a great teacher of Jainism, is an eminent master of Sastras. He is the founder-Principal of the college named Jain-Yasovijaya-Pathsala the premises of which we are just now occupying. He is also the chief editor of a series of sacred books of the Jains called Yasovijaya-granthamala which are being published under the auspices of this Pathsala. He is a *Sadhu* in the true sense of the term. His erudite lectures on the Hindu and Jain systems of philosophy and sociology elicited admiration from the Pandits of Bengal and other provinces of India who have borne a willing testimony to his deep knowledge of Sastras in the shape of the title just mentioned.

As a Jain Sadhu Muni Dharmavijaya is permitted to set very little value on temporal honours, nevertheless in this particular case he most respectfully accepts the title coming as it does from the hands of eminent scholars and religious men of Jambudvipa. The value of the title is immensely increased on account of its being conferred in the presence of His Highness the Maharaja Bahadur of Benares, a well known patron of Hindu learning and an eminent defender of the Hindu faith.

It is not at all strange that a Jain sage should, in virtue of his profound scholarship, be honoured by a Hindu Raja and a multitude of Hindu Pandits. In the temple of learning

there is no distinction of colours or creeds. The goddess of learning who is pure white abhors all distinctions of colours. Apart from the question of the interdependence of Hinduism, Jainism and Buddhism and their parallel developments, I would ask the audience here whether the philosophy of Mahavir has not raised India in the estimation of the learned world and whether the religion of *Ahimsa* taught by the Tirthankaras does not commend itself to the hearts of the millions of peace-loving Hindus.

History affords us with instances of Kings such as Harshavardhan Siladitya of Kanauj and Jaya Simha of Guzerat who used to encourage the Hindus, Jains and Buddhists alike. You are aware, gentlemen, that Ksapanaka was one of the famous nine gems (*Nava ratna*) at the court of Maharaja Vikramaditya. Now, this Ksapanaka was no other person than the distinguished Jain sage named Siddha Sena Divakara who besides being a great poet was also the author of an excellent metrical treatise on Logic called the Nyayavatara. It is even said that Siddha Sena was the spiritual preceptor of Vikramaditya. Instances might be multiplied to show that intellectualy and morally the Jains ran shoulder to shoulder with their Brahman and Buddhist brethren.

Philosophical disputes and religious controversies must always exist, but let not the feelings of mutual hatred and exclusiveness be entertained even for a moment. The Hindus, Jains and Buddhists are spiritual brothers and as such they, instead of retarding their mutual progress, should rather help one another in cultivating their intellectual and moral faculties.

The great Hindu sages like Sankaracharya, Kumarila Bhatta and Madhavacharya, prosecuted their studies in Jainism and Buddhism before they could criticise those systems. The studies of these systems continued among the Hindus all along until in recent years our Pandits have shown complete apathy towards them. Now, gentlemen in these days of critical studies one cannot be said to be a scholar unless he is versed

in the allied systems of learning. It is for these reasons that we most cordially welcome Muni Dharmavijaya in his efforts to spread Jain learning.

In this connection we cannot pass over the names of three eminent merchants of Bombay—Mr. Vir Chand Dip Chand C. I. E., Mr. Manilal Gokul bhai and Jhaveri Gulab Chand Devchand whose munificent donations enabled Muni Dharmavijya to establish the Yasovijaya Pathsala and to carry on its works.

On behalf of this Sabha I most respectfully welcome the Maharaja Bahadur of Benares who is :—

प्रतापसूर्यो भुवि यस्य राजन् विवर्धयन् वारि विपक्षचक्षुः ।
सरित्सु काँस्कान्न चमच्चकार जीयात्स नृपावलिकुञ्जरोऽयम् ॥ १ ॥

I also leave to offer our most sincere congratulations to Muni Dharmavijaya on his honours. Of him I can only say:-

षड्दृष्टिसिद्धान्तसमुद्रमन्थाः समस्तवाचंयम पुंगवोऽयम् ।
समस्तदोषः कृतिनां वरेण्यो बाभेति नित्यं मुनिधर्मसूर्यः ॥ १ ॥

तस्यैव दृष्ट्वा परकार्यवृत्तिं सज्ज्ञानवत्त्वं सुचरित्रवत्ताम् ।,
वाचस्पतेस्तुल्यवदत्वशक्तिं निष्पक्षपातत्वमनिच्छतां च ॥ २ ॥

शास्त्रविशारदजैना-चार्येतिपदं काशिपतिसमक्षम् ।
समर्पयन्ति सूरयः भारतीयाः सुगुणाकृष्टाः ॥ ३ ॥

SATIS CHANDRA VIDYABHUSANA

The 11th August 1908.

भावार्थः—

श्रीमन्महाराजा साहेब, मुनिवर्यों और गृहस्थो !

भारतवर्ष के भिन्न २ प्रदेशों के पंडितों ने मुनि श्रीधर्मविजयजी को जो पद प्रदान किया है, एतदर्थ अभिनन्दन देने के लिये आज यहां सम्मिलित हुए हैं। जिस महात्मा को यह पद दिया गया है, उनके गुणों के आगे, यह पद किसी गणना में नहीं है। 'शास्त्रविशारद–जैनाचार्य' की पदवी, आप जैनशास्त्र में प्रवीण शिक्षक हैं, ऐसा सूचन करती है। मुनि श्रीधर्मविजयजी जैनधर्म के अद्वितीयशिक्षक और शास्त्रों के संपूर्ण ज्ञाता हैं। आप श्रीयशोविजयजैनपाठशाला के स्थापक हैं, कि जिस पाठशाला के मकान में आप सब एकत्रित हुए हैं। इस पाठशाला के आश्रय से जो यशोविजयग्रंथमाला प्रकाशित होती है, इसके भी अधिष्ठाता आप ही हैं। और साथ ही साथ आप ने 'साधु' शब्द को चरितार्थ भी कर दिखाया है। आप के हिन्दू, जैनतत्त्वज्ञान और सामाजिक रिवाजों पर के विद्वत्ता युक्त व्याख्यानों ने, बंगाल और हिन्दुस्तान के अन्यान्य विभागों के पंडितों की तरफ से प्रशंसा प्राप्त की है। और उन विद्वानों ने, इस पदवी के द्वारा आप के शास्त्रीयज्ञान की गंभीरता को सिद्ध कर दिखाया है।

यद्यपि जैनसाधु होने से, मुनि श्रीधर्मविजयजी, इस मान की चाहना नहीं करते हैं, तथापि जम्बूद्वीप के धार्मिक मनुष्यों तथा प्रख्यात विद्वानों की तरफ से दिए जानेवाले पद को, आप स्वीकार करते हैं। इस पद की विशेष गौरवता तो इससे और भी बढ़ गई है कि, बनारस के श्रीमन्महाराजा बहादुर, जो कि हिन्दुविद्या के प्रसिद्ध आश्रयदाता और हिन्दुधर्म के रक्षक हैं, उनके समक्ष यह पद दिया गया है।

एक जैनसाधु को, उनके अपूर्व पांडित्य को देख, हिन्दु राजा और पंडितों के महान् समुदाय से जो पद दिया गया है, इसमें आश्चर्यकारक कोई बात नहीं है। क्योंकि सरस्वती के विद्यामंदिर में वर्ण या धार्मिक मन्तव्यों का भेदाभेद नहीं होता। सरस्वती, जो कि बिलकुल पवित्र है, वह वर्ण के भेदों की ओर तिरस्कार दिखाती है। हिन्दु, जैन और बौद्ध धर्म के परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धांत और समकालीन

महामहोपाध्याय डॉ. सतीशचंद्र विद्याभूषण एम. ए; पीएच. डी.

(प्रीन्सीपल संस्कृत कालेज, कलकत्ता.)

विकाश के प्रश्न को अलग रखकर, मैं आप से इतना ही पूछूंगा कि-क्या महावीर के तत्त्वज्ञान ने भारतवर्ष को, शिक्षित दुनिया की गणना में नहीं रक्खा है ?। क्या तीर्थंकर प्ररूपित 'अहिंसा' के सिद्धांत ने लाखों शान्तिप्रिय हिन्दुओं के हृदयों में स्थान प्राप्त नहीं किया है ?

हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म को एक समान रीति से उत्तेजन देनेवाले राजाओं के दृष्टान्त इतिहासों में से मिलते हैं। जैसे कि-कन्नोज के महाराज हर्षवर्धन शिलादित्य और गुजरात के महाराजा जयसिंह वगैरह।

सद्गृहस्थो ! आप लोग जानते हैं कि-माहाराजा विक्रमादित्य के दरबार में, क्षपणक नवरत्नों में से एक थे। यह क्षपणक अन्य कोई नहीं, किन्तु प्रख्यात जैनसाधु सिद्धसेन दिवाकर ही थे; जो कि एक बड़े भारी कवि थे। इतना ही नहीं किन्तु, 'न्यायावतार' नामक न्याय-शास्त्र के एक सुंदर ग्रन्थ के कर्ता भी थे। ऐसा भी कहा जाता है कि, सिद्धसेन, विक्रमादित्य के धर्मगुरु थे। जैन लोग, बुद्धिबल, और नीति-नियमों में ब्राह्मणों और बौद्धों की समता कर सकते थे। इसको सिद्ध करने के अनेक दृष्टान्त मिल सकते हैं।

तत्त्वज्ञान और धार्मिकविषयों में विवाद हमेशा चलते रहेंगे, परन्तु आपस में तिरस्कार और बहिष्करण के विचारों को एक क्षण भी स्थान नहीं देना चाहिये।

हिन्दु, जैन और बौद्ध धर्मबंधु हैं। और धर्मबंधुओं को, आपस में धर्म की वृद्धि करने में विरोध नहीं करते हुए, परस्पर बुद्धिबल और नैतिकबल की वृद्धि में सहायता करनी चाहिये।

शंकराचार्य, कुमारिलभट्ट और माधवाचार्य जैसे हिन्दु-धर्मगुरुओं ने बौद्ध और जैन धर्म पर जो विवेचन किये थे, इसके पहिले उन धर्मों के सिद्धान्तों का अभ्यास किया था। अभी कुछ वर्षों से अपने पंडितों ने बुद्ध और जैनधर्म के सिद्धान्तों के अभ्यास के विषय में सम्पूर्ण तिरस्कार दिखाना शुरू किया है।

सद्गृहस्थो ! ऐसे अभ्यास के स्पर्द्धास्पर्द्धी के जमाने में, समकालीन-मतों के शास्त्रों में सिवाय पारंगत होने के, कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं

कहा जा सकता है। और इसी कारण से, मुनि धर्मविजयजी को उनके जैनधर्म, जैनसाहित्य के प्रचार करने के कार्य क बदले में अन्तःकरण से धन्यवाद दिया जाता है।

इसके साथ बम्बई के तीन प्रतिष्ठित गृहस्थों के नामों को स्मरण किये सिवाय नहीं रहा जा सकता। उनके नाम हैं, सेठ वीरचंद दीपचंद सी. आई. ई, सेठ मणिलाल गोकुलभाई और जौहरी गुलाबचन्द देवचन्द। इन तीनों की उदारता से मुनि धर्मविजयजी, श्रीयशोविजयजैनपाठशाला को स्थापन करने और उसकी व्यवस्था ठीक २ चलाने में फतेहमंद हुए हैं।

* * * * * *

महाराजा काशीराज का व्याख्यान।

इस प्रसंग पर महाराजा काशीनरेश की आज्ञा से उनके प्राइवेट-सेक्रेटरी श्रीयुत विन्ध्येश्वरीप्रसादजी ने व्याख्यान देकर राजाओं का, प्रजा के प्रति क्या धर्म-फर्ज है, इस बात को बहुत अच्छी तरह स्फुट कर दिखाया था। और प्रजावर्ग के आपस में जो वैर-विरोध खडे होते हैं, उस पर आपने अपनी घृणा जाहिर की थी। इसके बाद आगे बढ़कर आपने कहा:—

"भारतवर्ष के समस्त पंडितवर्ग की तरफ से, आज श्रीधर्मविजयजी महात्मा को जो प्रतिष्ठापत्र दिया जाता है, उससे वास्तविक रीत्यानुसार किसका मान बढ़ता है, यह मैं दिखलाना चाहता हूँ।

सज्जनो! इस प्रतिष्ठापत्र से एक योग्य महात्मा पुरुष के पुरुषार्थ का सत्कार हुआ है, यह बात सत्य है। परन्तु इस प्रतिष्ठापत्र से मुनि श्रीधर्मविजयजी का जितना मान हुआ है, इससे उन विद्वानों का अधिक मान हुआ है, जो इस पद को दे रहे हैं। क्योंकि विद्वत्समाज ने भारतवर्ष के एक योग्य नररत्न की विद्याभिरुचिता तथा समानता की योग्यता पहचानी है।

महाराजा बहादुर काशी नरेश सर श्रीप्रभुनारायणसिंहजी

जी. सी. एस. आई.

महाशयो ! आप जानते ही होंगे कि, महाराजा साहेब की निरंतर ऐसी ही इच्छा रहा करती है कि–राजा की निष्पक्षपात वृत्ति को अधिकाधिक पोषण मिलता रहे । ब्राह्मणों और जैनों के बीच में रहे हुए कुविचार दूर हो जांय। जब से श्रीयशोविजयपाठशाला काशी में स्थापित हुई है, तब से महाराजा साहेब की मिष्टदृष्टि इसकी तरफ बहुत ही उत्तम प्रकार से हो रही है । और महाराजा साहेब यह भी अन्तःकरण पूर्वक चाहते हैं कि इस विद्यालय की दिनप्रतिदिन उन्नति हो । क्योंकि–'विद्याप्रसार रूप प्रमेय वस्तु तो सब की एक ही है।' इसमें किसी का भी विवाद नहीं है ।

पंडितवर्यो ! आपस आपस का वैर-विरोध हमेशा नुकसान करनेवाला ही होता है, ऐसा समझते हुए भी काशी के पंडितों में से सर्वथा यह निर्मूल नहीं हुआ है, यह सचमुच खेद का विषय है । तथापि मैं प्रसन्नता के साथ इतना अवश्य कहूँगा कि–मुनि श्रीधर्मविजयजी के इस नगर में आने के बाद, उनकी मधुरदेशना के प्रताप से पंडितवर्ग मित्राचारी को बढ़ाता जा रहा है । और ऐसा ही प्रयत्न मुनि महाराज की तरफ से निरन्तर होता रहेगा, तो मुझे संपूर्ण आशा है कि—एक समय ऐसा भी आवेगा कि-जब जैनों, बौद्धों और हिन्दुओं में परस्पर मैत्रीभाव दृढ़ता के बन्धन से संगठित हो जायगा ।"

महाराजश्री का उत्तर ।

प्रतिष्ठापत्र के उत्तर में महाराजश्री ने सुललित व्याख्यान दिया, जिसमें आपने कहा थाः—

"महाराजा के उन विचारों को, जो वैर-विरोध के दूर करने के विषय में हैं, सुन मुझे आनन्द होता है । और मैं भी शासनदेवों से यही प्रार्थना करता हूं कि—भारतवर्ष में वे दिन जल्दी आवें, जैसे कि महाराजा ने फरमाया है । साथ ही साथ प्रारम्भ में एक और बात भी कह देनी समुचित समझता हूं । वह यह है कि–पंडित-समाज ने, शहर के प्रतिष्ठित अग्रगण्य महानुभावों ने तथा स्वयं महाराजा बहादुर ने आज श्रीयशोविजय पाठशाला में पधारकर जो प्रेम दिखलाया है, उसको मैं कदापि नहीं भूलूंगा ।

पंडितप्रवरो ! आज आपने मुझको 'शास्त्रविशारद जैनाचार्य' की पदवी देकर अपने उदार विचारों का जो परिचय दिया है, वह जंबूद्वीप के इतिहास में सौवर्णाक्षरों से निरन्तर अंकित रहेगा। तो भी मुझे आप लोगों के समक्ष खुल्लंखुल्ला कहना चाहिये कि-आप लोगों ने मुझको जो पदवी अर्पण की है, उसके लायक मैं नहीं हूँ। आप सज्जन महाशय जानते ही हैं कि—हाथी की अंबाडी, हाथी पर ही शोभा दे सकती है, टट्टू पर नहीं। लेकिन आज मैं वैसा ही विपरीत वर्ताव होता हुआ देखता हूं। किन्तु जब आप जैसे सज्जन महाशयों का मेरे प्रति इतना भक्ति भाव पूर्वक आग्रह है, तो मुझे उस हस्ति के भार को उठाना ही पडता है। और मैं यह अन्तःकरण पूर्वक चाहता हूं कि-आप सर्वपंडितों की सहाय से, इस पदवी के महत्त्व को समझूं।

सज्जनो ! मैं पुनः भी महाराजा बनारस के, वैर-विरोध के निर्मूल करने की बात को सर्वथा अनुमत होता हूं, और इसी कथन को पुष्ट करनेवाले आघातप्रत्याघात के नियम को आप के सन्मुख उपस्थित करता हूं।

प्रियपंडितो ! आप लोगों को मालूम ही है कि-किसी मनुष्य को या किसी चीज को जब हम जोर से आघात पहुंचावेंगे, तब हमें भी उसका प्रत्याघात अवश्य ही सहना पडेगा। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि-आपस आपस में वैर, विरोध, क्लेश, निन्दा आदि के करने से आघात प्रत्याघात के स्वाभाविक नियमानुसार दोनों की अधोगति हुई है, होती है और आगे भी होगी इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

महाशयो ! प्रसंगानुरोध से मैं यहां पर एक और बात की भी याद दिलाना चाहता हूं। प्रायः करके जनसमाज में और विशेष करके यहाँ के पंडितों में एक ऐसा झूठा विचार प्रवेश कर गया है कि-'अन्य धर्मियों के मंदिरों में जाने से, अन्य धर्मियों के पुस्तकों के प्रकाशन करनेसे और अन्यधर्मियों के ज्ञान प्रचार की ओर सहानुभूति दिखलाने से, वह स्वधर्म से भ्रष्ट हुआ गिना जाता है।' अफसोस ! लेकिन सज्जनो ! मुझे शान्ति से कहने दीजिये कि—इस मन्तव्य में कारण, केवल अज्ञा-

नता या कूपमंडूकता के सिवाय और क्या हो सकता है ? जैनमंदिरों में जाने से अथवा जैनपुस्तकों के अवलोकनमात्र से क्या आप लोग जैनी वन जायेंगे ? । थोडी देर के लिये इंग्लेंड और अमरीका के विद्वानों की कार्यप्रणाली को देखिये । तब आप लोगों को, उनकी उदारता और विद्याभिरुचिता का पूरा परिचय मिल जायगा । और साथ में यह भी निश्चय हो जायगा कि—अन्य दर्शनानुयाइयों के ज्ञानप्रचार को सहायता-उत्तेजन देने से कदापि अवनति नहीं होती ।

सज्जनो ! मैं संक्षेप से यही कहूंगा कि–'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्' यह एक प्रकार की निर्मूल लट्ठालट्ठी के सिवाय और कुछ नहीं है । ऐसे तो हमारा जैन संप्रदाय भी कदाचित् 'सिंहेना-ऽऽताड्यमानोऽपि न गच्छेच्छैवमन्दिरम्' इस प्रकार का वाक्यप्रहार करे तो कोई क्या कह सकता है ? लेकिन इसमें प्रमाण क्या है ? कुछ भी नहीं । केवल वाग्जाल का ही प्रपंच है ।

महाशयो ! अव मैं आप का विशेष समय नहीं लेना चाहता । सिर्फ पिष्टपेषणरूप यही कहूंगा कि–आज परस्पर विरोधभाव को दूर होता हुआ देख मुझे अत्यन्त ही हर्ष होता है । और उसमें भी स्वयं महाराजा ने सभापतित्व के पद से उच्चारण किये हुए, मेरे हृदय के विचारों को सुन यह शरीर बहुत ही प्रफुल्लित होता है । अन्त में काशी नगर के सद्गृहस्थों, पंडितों और महाराजा काशीराज का प्रेम श्रीयशोविजयजी पाठशाला पर निरन्तर बना रहे, यही अन्तिम प्रार्थना श्रीशासनदेवों से करता हुआ मैं अपने वक्तव्य को यहां ही समाप्त करता हूं ।"

इसके बाद सेठ धीरचंद दीपचंद सी. आई. ई. जे. पी. ने समस्त जैनों की तरफ से, इस पदवी के विषय में अपना हर्ष प्रकट किया और महाराजा बनारस और उन पंडितों को, जिन्हों ने एक योग्य विद्वान् जैनसाधु का सम्मान किया था, धन्यवाद दिया ।

इस पदवी के प्रसंग पर श्वेताम्बरमूर्तिपूजक के प्रायः समस्त अग्रगण्यों के सहानुभूति प्रदर्शक तार आए थे । उनमें ये भी थेः—

सेठ लालभाई दलपतभाई अहमदावाद, महाराजा वहादुरसिंहजी वालुचर (मुर्शिदावाद), रायवहादुर वावू बुद्धसिंहजी दुधेडिया अजीमगंज (मुर्शिदावाद), राजा विजयसिंहजी अजीमगंज, रायबद्रीदासजी मुकीम कलकत्ता, वावू सेतावचंदजी नाहर अजीमगंज, सेठ जेठाभाई जयचन्द ऑ. मेजिस्ट्रेट कलकत्ता, समस्त श्रीसंघ मांडल, वाडीलाल पुरुषोत्तमदास वीरमागम, वावू गोविन्दचन्दजी धन्नूलालजी विहार, मोहनलाल खोडीदास बम्बई, हरिभाई अमीचन्द बम्बई, श्रीजैनक्लब कलकत्ता, श्रीजैनसंघ वीरमगाम, श्रीजैनसंघ पाटडी, वाडीलाल हठीसिंह वीरमगाम, वगैरह वगैरह ।

इन तारों के उपरान्त कई पत्र भी आए थे । पाठकों को इसके अगले प्रकरण से मालूम होगा कि–आप की विख्याती भारतवर्ष में ही नहीं थी, किन्तु पाश्चात्यदेश, जैसे जर्मन, फ्रांस, अमरीका, इंग्लेंड वगैरः में भी वहुत हुई थी, कारण यह था, कि–उन देशों के विद्वानों ने, जिस २ समय साहित्यसंबंधी आप से सहायता मांगी, उस २ समय आप देते आए थे (अव भी वरावर दे रहे हैं) और इससे आपकी विद्वत्ता से सव लोग परिचित हो चुके थे । अतएव जब उन विद्वानों ने आप के इस "शास्त्रविशारद-जैनाचार्य' के पद की वात सुनी, तव उन्होंने भी धन्यवाद पत्र लिख भेजे, और अपना हर्ष प्रकट किया । उन पत्रों में से एकाध दो पत्र यहां उद्धृत किये जाते हैं ।

प्रोफेसर जॉहनस् हर्टल, डॉवलेन (जर्मन) से ता० १२ सप्टेम्बर सन् १९०८ के पत्र में इस तरह लिखते हैं:—

I beg to congratulate you most heartily for the well deserved title of शास्त्रविशारद जैनाचार्य which has been confirmed upon you by the Pandits. I am touched by the unanimity and the familial feelnig which prevails throughout in these fine verses and in the prose which accompanies them. Philosophical disputes and religious controversies must always exist but let

not feelnigs of mutual hatred and exclusiveness be entertained even for a moment &c."

सारांश—आपको बहुत योग्य ऐसी शास्त्रविशारद-जैनाचार्य की पदवी पंडितों की तरफ से मिली, इसके लिये मैं अन्तःकरण से अभिनंदन देता हूं। भ्रातृभाव तथा ऐक्य की लग्न जो इन श्लोकों और गद्य में फैल रही है, इससे मुझ पर बहुत ही प्रभाव पड़ा है। तत्त्वज्ञान सम्बन्धी वाद विवाद तथा धार्मिक चर्चा हमेशा रहनी चाहिये, परन्तु परस्पर तिरस्कार और विरुद्धता एक क्षणभर भी नहीं रहनी चाहिये।

प्रोफेसर हर्मन जेकोबी, बोन (जर्मनी) से ता० ११ सप्टेम्बर सन् १९०८ के पत्र में लिखते हैं कि–

I have learned with great satisfaction that the Pandits of various parts of India have conferred on you the title "Sastra Visharada-Jainacharya" I beg heartily to congratulate you on this recognition of your merits by the learned among your countrymen. Though you may set little value on worldly honours still it will give great delight to your friends and to the flock you lead.

भावार्थः—बहुत संतोष के साथ मेरे जानने में आया है कि–हिन्दुस्तान के कई एक भागों के पंडितों ने आप को 'शास्त्रविशारद-जैनाचार्य' का पद अर्पण किया है। आप के स्वदेशी विद्वानों ने आप के सद्गुणों की की हुई इस पिछान के लिये मैं अन्तःकरण से मुबारिकबादी देता हूँ। यद्यपि सांसारिक सम्मान का कुछ भी मूल्य आप को न हो, तौ भी आप के मित्रों तथा जिस संप्रदाय के आप नायक हैं, उनको तो यह बहुत ही आनन्द देगा।

इस पदवी के विषय में जितना कार्य बना है, सभी जैनों के लिये नहीं, भारतवर्ष के लिए बहुत ही गौरव का है। जिन लोगों के आपस में द्वेषभाव ने ऐसा घर कर लिया था कि, जिसको नित्यवैर कहें, तो भी अत्युक्ति न हो, उन्हीं लोगों का आपस में ऐसा मेल होना, योग्य का योग्य सत्कार करना, यह सब भारतवर्ष के उदयचिह्न ही हैं। इसी

तरह से यदि हमारे भारतवर्ष के जैन, हिन्दु, मुसलमान वगैरह गुणानुरागता को धारण कर एक दूसरे से मेल रक्खें, प्रेमभाव रक्खें, एक दूसरे पर आक्षेप विक्षेप करना छोड़ अपने २ धर्म की, समाज की उन्नति करते रहें, और ऐसे उन्नति के कार्यों में एक दूसरे से मिल कर कार्य करें, तो फिर, कहने की आवश्यकता है ही नहीं कि भारतवर्ष की उन्नति बहुत शीघ्रतया होगी।

आज तक आपकी प्रसिद्धि मुनिराज श्रीधर्मविजयजी के नाम से थी, परन्तु अब से आप, आचार्य पदवी हो जाने के कारण शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरि के नाम से पहचाने जाने लगे। क्योंकि जैनों में जो आचार्य होते हैं, वे विजयान्त के विजयादि लिखे जाते हैं।

साहित्यप्रचार

गत एक प्रकरणमें कहा जा चुका है कि, "जैनों में संस्कृत और प्राकृत के पठन-पाठन का क्रम लुप्त प्रायः हो जाने से, इन भाषाओं के अच्छे विद्वानों के तय्यार करने की जितनी जरूरत थी, उतनी ही आवश्यकता पूर्वाचार्यकृत ग्रन्थों के प्रकाशित करनेकी भी थी।" यह आवश्यकता भी आपकी दृष्टि से बाहर नहीं थी। बल्कि काशीमें पाठशालाके स्थापन होनेके पश्चात् जैनसाहित्य विषयक लोगों के ज्यों ज्यों दुरभिप्राय जाननेमें आये, त्यों २ आपके, प्राचीन ग्रंथों के प्रकाशित करनेके विचारमें और दृढ़ता हुई। जैनाचार्यों के बनाये हुये न्याय, व्याकरण, साहित्य, चम्पू-नाटक, ज्योतिष एवं वैद्यकादि विषयों के हजारों नहीं, लाखों ग्रन्थ रत्नों के होने पर भी 'जैनों के वहां कुछ भी साहित्य नहीं है' 'जैनसाहित्यमें है ही क्या?' इत्यादि विचार जब २ आप सुनने लगे, तब २ आपके मनमें यह निश्चय भी होता गया कि-प्राचीन संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों को अवश्य प्रकाशित करना चाहिये।

प्रियपाठक ! लोगों के उपर्युक्त विचारों के होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस गँवाइ के आदमी ने अपने गाँव के सिवाय और किसी अच्छे शहेरको कभी देखा ही नहीं है, वह अपने गाँवको ही पेरिस समझता है। कूप में रहा हुआ मंडूक, कूपही को समुद्र समझता है। इसी तरह जिन्होंने अपने घरके ग्रन्थोंके सिवाय और किसी के ग्रन्थोंको अपने हाथ में लेने की उदारता की ही नहीं है, वे वैसा समझें-मानें या कहें, इस में कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन जो विद्वान् जैन साहित्य को देखते हैं, जैनविद्वानों के समागम में आते हैं, वे तो मुक्तकंठ से प्रसंशा किये विना नहीं रहते। एक जर्मन विद्वान्, जिनका नाम डा० हर्टल है, वे अपने एक आर्टिकल में लिखते हैं:—

Now what would Sanskrit poetry be without this large Sanskrit literature of the Jains ? The more I learn to know it, the more my admiration rises. (Jain Shasan volume I No. 21)

अर्थात्-" यदि यह जैनों का महान् संस्कृत साहित्य न्यून कर दिया जाय, तो संस्कृतकाविता की क्या दशा हो ? ज्यों २ मुझे इस विषयमें अधिक जानने को मिलता है, त्यों २ मेरा सानन्दाश्चर्य बढ़ताही जाता है।"

यह तो आपने समुच्चय जैन संस्कृत साहित्य के विषय में कहा, परन्तु आप जैनोंके **कथासाहित्य** के विषय में भी बहुत ही उच्च अभिप्राय देते हैं। आप कहते हैं:—The Jains always endeavoured to raise the morals of their countrymen. while Hindu authors do not shrink from most obscene; stories, as is clear from the Prajapati myths in Regveda, in the Brahmanas, and from many stories in the Mahabharata and in the Puranas, stories which no Jain ever would have related (Extract from Hertel's letter the Oc. 29-1911).

अर्थात्-जैनोंने, निरंतर अपने स्वदेश बंधुओं की नीति को उत्कृष्ट

स्थिति पर लाने के लिये प्रयत्न किया है। हिन्दु ग्रन्थकारों ने ऐसी अत्यन्त बिभत्स कथाएं कहीं हैं, कि जिन कथाओं को जैन कदापि नहीं कह सकते। ऐसा, पुराण और महाभारत की बहुतसी कथाओं एवं ऋग्वेद की प्रजापति और ब्राह्मण विभाग की कथाओं पर से स्पष्ट मालूम होता है।

इसी डा० हर्टल महाशय ने अपने The Jain and the Panchatantra नामक लेख में भी लिखा है :-" As perhaps any body might suppose that I have arrived at these results through a certain predilection for the Jains or for their religion, or through the circumstance that I used only Jain Sources for my research, let me state here, first that when I began my Panchatantra Studies, I had but a very scanty idea of what the Jains and their life nature were and secondly, that during all these years, I have tried my best to collect all the Panchatantra Mss. available, writing hundreds of letters and spending a great deal of money. What I expected at the beginning of my work, was to see confirmed Benefey's results. If quite the contrary took place this effect has been arrived at not by any predilection whatsoever, nor by any negligence in my endeavours to find the truth, but by the fact that the Jains, and especially the Shvetambars of Gujerat, not only in Hemachandra's days, but long before and after this great scholar, exercised a most powerful and beneficial influence on the civilisation of their native country. They not only promoted their religion which taught their countrymen a pitiful behaviour towards men and animals, and their rulers' justice towards their subjects, but they promoted learning and literary culture, in Sanskrit as well as in Prakrit, in Braj Bhakha and in their

vernacular Gujarati. In the same time their layman caused to be built the splendid temples which adorn the country, promoting a fine and impressive Plastic and architectural art, and to be copied thousands of manuscripts, and to be established libraries for their monks. These monks, on the whole, were not narrow-minded. As Hemchandra himself studied also the Shastras of other religious Communities, and hence their spiritual culture, which is abundantly evidenced by the huge mass of 'Jain' works still existing in our days, was perhaps the highest in all India what would have become of Prakrit literature without the Jain writers ? It is my firm conviction that owing to this very spiritual culture the Jains maintained themselves and their influence in India amongst the people as well as at the Courts of Hindu and Mohammedan rulers. To the unlearned they gave an attractive literature in the vernacular, and at the courts of the Princes they vied in literary art and learning with the most cultured Hinduistic or Mohammedan scholars and they used the influence they gained in this way over the minds of the rulers to make them just and benign to their subjects."

अर्थात्—"जैन अगर जैन धर्म के प्रति निःसंशय अनुराग के वश से, अथवा मेरे अन्वेषण के लिये मैंने सिर्फ जैन साधनों का उपयोग किया है इस प्रसंग को लेकर के, मैं इन सिद्धान्तों पर आया हूँ, ऐसा कदाचित् कोई मानले, एतदर्थ मुझे यहाँ कहना चाहिये कि, पहिले जब मैंने पंचतंत्र का अध्ययन शुरु किया, तब, जैन और उनके जीवन साधन क्या हैं ? उनका मुझे बहुत ही कम विचार था। और दूसरा यह कि, इन सब समयों में सैंकड़ों पत्र लिखकर के, एवं बहुत द्रव्य का व्यय करके, पंचतंत्र के समस्त प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह करने में

बहुत प्रयत्न किया है। मेरे ग्रंथ के प्रारंभ में मैं जो अपेक्षा रखता था, वह यह थी कि वेन्फी का सिद्धान्त ठीक है या नहीं ? अगर उससे बिलकुल उल्टा ही हुआ हो, तो यह सिद्धान्त (परिणाम) मेरे किसी प्रकार के अनुराग से अथवा सत्यसंशोधन करने में मेरी उपेक्षा से नहीं, किन्तु जैन और खास करके गुजरात के श्वेताम्बर, सिर्फ हेमचन्द्र के समय में नहीं, किन्तु उस महान् विद्वान् के पहिले और पश्चात्-उनकी जन्म भूमि की उन्नति (सुधारा) के ऊपर बहुधा हितकर और दृढ़ लक्ष्य रखते थे, अतएव मैं इस सिद्धान्त पर आया हूँ। उन्हों ने, अपने धर्म की, कि जिसने अपने स्वदेश बन्धुओं को मनुष्य और पशुओं के प्रति दयाशील वर्ताव और उनके आश्रितों के प्रति नियमिक का न्याय दिखलाया है, उसकी, इतना ही नहीं किन्तु संस्कृत, प्राकृत, व्रजभाषा और गुजराती में भी विद्या और साहित्य शिक्षण की वृद्धि की है। उसी समय उनके सांसारिक लोगों ने, चित्ताकर्षक आकार (नये २ रूप बनाए जायँ ऐसी) और शिल्पीयकला को उन्नत बनाकर देशभूषण रम्यमंदिर बनवाए, हजारों हस्तलिखित ग्रन्थों की नकलें करवाइं, और उनके साधुओं के लिये पुस्तकालय स्थापित करवाए। निदान ये साधु, संकुचित मनके नहीं थे। हेमचन्द्र ने स्वयं अन्यधर्मीय शास्त्रों का भी अभ्यास किया था। और उससे उनका आध्यात्मिक बल, कि जो अपने समय में विद्यमानता रखते हुए जैनग्रंथों के भंडार दृढ़ साक्षी दे रहे हैं, वह सारे भारतवर्ष में उच्चतम होगा, सिवाय जैन लेखकों के प्राकृत साहित्य का क्या होता ? । मेरा निश्चय है कि-इसी आध्यात्मिक उन्नति के कारण, जैन हिन्दु और मुसलमान बादशाहों की अदालतों में एवं प्रजा में अपना और अपने प्रभाव का प्रतिपादन करते थे। अशिक्षित लोगों को उनकी भाषा में आकर्षक साहित्य देते थे। और राज्य सभाओं में सुशिक्षित हिन्दु तथा मुसलमान विद्वानों से साहित्य और विद्या के ऊपर विवाद भी करते थे। और इस प्रकार जो महत्त्व वे प्राप्त करते थे; उस महत्त्व का उपयोग, राजाओं को, प्रजा के प्रति न्यायी और दयालु बनाने में करते थे।"

इटालीयन विद्वान् डा. एल. पी. टेसेटोरी अपने एक व्याख्यान में कहते हैं:—

"जैनदर्शन बहुत ही ऊंची पंक्ति का है। इसके मुख्य तत्त्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं, ऐसा मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव है। ज्यों २ पदार्थ विज्ञान आगे बढ़ता आता है, जैन धर्म के सिद्धान्तों को सिद्ध करता है। और मैं जैनियों को इस अनुकूलता का लाभ उठाने का अनुरोध करता हूँ। जैन धर्म के तात्त्विक ग्रंथ, जहाँतक बने शिघ्र पाश्चात्य भाषाओं में तरजुमा कराकर प्रकाशित करवाने चाहियें। मेरा यह अनुमान है कि जैन पुस्तक प्रकाशित हो जाने से बडे तत्त्वज्ञानियों को और भाषाशास्त्रियों को अमूल्य लाभ होगा। आप चाहें तो संसार के ज्ञान में बहुत कुछ तरक्की, ऐसे करने से हो सकती है। मैंने अपने कई मित्रों द्वारा खेद पूर्वक यह सुना है कि, कई जैन पुस्तकें, जो भंडार में मौजूद हैं, उन्हें संशोधनार्थ मिल नहीं सकती। और इस तरह से उनका बहुतसा कार्य अटका हुआ अधूरा पडा है। मुझे और सभी विद्वानों को आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि की मदद बहुत लाभदायक हुई है, और वे सहस्र वार धन्यवाद के पात्र हैं।

अहिंसा, सभ्यता (Civilization) का सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट दरजा है। यह निर्विवाद सिद्ध है और जब यह सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट दरजा जैनधर्म का मूलही है, तो इसकी और सर्वाङ्ग सुंदरता के साथ यह कितना पवित्र होगा, यह आप खुद ही समझ सकते हैं। जैनी लोग अहिंसा देवी के पूर्ण उपासक होते हैं, और उनके आचार बहुत शुद्ध और प्रशंसनीय होते हैं। उनके बारह व्रत और सप्तव्यसन वगैरह बावतों के जानने से मुझे बहुत खुशी हुई और उनके चारित्र की तरफ मेरे दिल में बहुत आदर उत्पन्न हुवा है। जैन मुनियों के आचार देखने से मुझे वे अतिकाठिन जान पडते हैं, लेकिन वे ऐसे तो पवित्र हैं कि—हरएक के अन्तःकरण में बहुत भक्तिभाव और आदर उत्पन्न करते हैं। ऐसे ही चारित्र से सर्व साधारण पर आश्चर्यजनक प्रभाव पडता है। मेरे ऊपर उनके चारित्र बल से उनके लेखों और व्याख्यानों का सुभाग्यवश असर हुआ है, और मैं इस निश्चय पर आपहुँचा हूँ कि, मैं भी जहाँतक बने जैनधर्म के मुख्य नियमों के अनुसार चलूं।"

इसी प्रकार से कितनेही अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने भी जैन साहित्य और जैन धर्म के विषय में अपने उच्च अभिप्राय प्रकट किये हैं। कारण यह है कि वे लोग हरएक मजहब के ग्रन्थों को देखते हैं। और सत्य अभिप्राय को प्रकट करने में जरा सा भी संकोच नहीं रखते।

इधर महाराजश्री का विचार हुआ कि, 'यदि प्राचीन जैनग्रन्थ प्रकाशित होंगे तो, जैनग्रन्थों के प्रति घृणा करनेवाले धर्मान्ध भी, किसी समय खंडन करने की बुद्धि से भी घर के कोने में बैठ कर भी ग्रन्थों को देखेंगे। और ऐसे ग्रन्थोंके प्रकाशित होनेसेही जैन साहित्य के विषय में वहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा। ऐसा विचार कर आपने अपने दूसरे विचार को अर्थात् साहित्योद्धार के विचार को भी कार्य में परिणत किया। अर्थात् सं० १९६० की साल से ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य ग्रन्थमाला के रूप में पाठशाला के साथ ही शुरु करवाया। इस ग्रन्थमाला का नाम 'श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला' रक्खा। करीव चार वर्ष यह कार्य पाठशाला के साथ ही चलता रहा, परन्तु पीछे से पाठशाला को, इस के खर्च की अनुकूलता नहीं होने के कारण यह ग्रन्थमाला पाठशाला से पृथक् हुई, जिसके कार्यवाहक-मालिक महाराजश्री के परम भक्त श्रीयुत हर्षचन्द्र भूराभाई, जो कि एक परोपकारी कार्य दक्ष थे, वे हुए। इस ग्रन्थमाला का कार्य वड़ी योग्यता के साथ चलने लगा। वड़े २ अलभ्य न्याय, व्याकरण, काव्यादि के ग्रन्थ ऐसी योग्यता के साथ संपादन होने लगे कि जिसकी वड़े २ विद्वान् लोग मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे।

इस ग्रन्थमाला में पहिले पृथक् २ ग्रन्थ निकलते रहे, इससे ग्रन्थ के पूरे होने के सिवाय इस के ग्राहकों को लाभ नहीं मिल सकता था। अतएव आचार्यश्री ने इस ग्रन्थमाला को मासिक के रूप में करवा दिया। अर्थात् प्रतिमास उन ग्रन्थों के सौ २ पृष्ठ ग्राहकों को मिलने लगे।

यह ग्रन्थमाला सूरीश्वरजी के उपदेश से अभी तक वरावर चल रही है, इस में करीव पचास ग्रन्थ वड़े महत्त्वके-अलभ्य प्रकाशित हुये हैं। जिन ग्रन्थों को देखने से, जैन साहित्य को तुच्छ समझने वाले लोग भी जैनाचार्यों की कृतिपर मुग्ध होते हैं, और जैनसाहित्य की मुक्तकंठ से तारीफ करते हैं।

जैनों की 'श्रीयशोविजयग्रन्थमाला' ने इतने थोड़े समय में भी, इस देश में तथा अन्य देशों में जितनी प्रसिद्धि पाई, उतनी और किसी संस्था ने नहीं पाई। 'इन्डीयन एन्टीक्वेरी' 'जर्नल एसियांटिक सोसाइटी ऑफ पेरिस' इत्यादि कई बड़े प्रसिद्ध पत्रों में इसकी तारीफ छपी है। इनके सिवाय डा० ए० गेरीनोट, डा० जोहोन्स हर्टेल पीएच० डी०, डॉ० हर्मन जकोबी, श्रीपद कृश्न बेलवालकर ऐसिस्टेन्ट प्रोफेसर ऑफ संस्कृत डेकन कालेज, डा० एन० मिरोनाव, डा० एफ० डब्ल्यु थॉमस लाइब्रेरीयन धी इन्डीया ऑफीस लायब्रेरी, डा० ए० एफ० रुडोल्फ, टी० एफ० कुप्पुस्वामी शास्त्री, डा० चार्लेस एलियट, डॉ बेलोनी फिलिप, डा० फीनोट, डॉ० जी० हुलिश, डा० एन्ड्रोलोजीस फिलिपी, डा० चार्ल्स एच० टोनी, महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शास्त्री, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, सम्पादक सहृदया (संस्कृत मासिक पत्रिका) वगैरह कई एतद्देशीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस ग्रन्थमाला की प्रशंसा की है। बल्कि संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेन्ट ने भी इस ग्रन्थमाला को, प्रसिद्ध मासिकों की श्रेणी में स्थान दिया है। यह जैनों के लिये खास गौरव का कारण है।

इस प्रकार यशोविजयग्रन्थमाला के द्वारा प्राचीन ग्रन्थों को प्रसिद्ध करवा देने ही से उद्देश्य की इतिश्री नहीं होती, यह भी आप खूब समझते थे। जब तक ये ग्रन्थ संस्कृत कालेजों की उपाधियों की परीक्षाओं में संमिलित न हों, तब तक इसके पढ़नेवाले अधिक नहीं निकलेंगे, ऐसा समझ कर आपने परिश्रम करके कलकत्ते की संस्कृत कालेज में न्यायकी **प्रथम, मध्यम** और तीर्थ, व्याकरणकी **प्रथम, मध्यम** और तीर्थ की परीक्षाओं में न्याय और व्याकरण के ग्रन्थ दाखल करवा दिये। जिससे प्रति वर्ष कई विद्यार्थी उपाधिएं प्राप्त कर तैयार होते हैं। इस के सिवाय 'प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार' नामक ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय की, एम० ए० की परिक्षा में नियत हुआ है। यह सब आपही के परिश्रम का फल है।

साहित्य सेवा के कार्य में एक यह बात बहुत आवश्यकीय है कि भिन्न भिन्न भाषाओं को भी जानना चाहिये। संस्कृत-प्राकृत भाषा के

जानने से यद्यपि एतद्देशीय दर्शन अच्छी तरह से जाने जा सकते हैं, परन्तु जिस बौद्ध दर्शन के क्षणिकत्वादादि का खंडन जैन और हिन्दू दर्शनशास्त्रों में जोर शोर से देखा जाता है, उसका मूल उनके ग्रन्थोंमें है या नहीं ? अथवा है तो कहाँ तक है ? इसको देखने के लिये पाली भाषा के जानने की बहुत ही आवश्यकता है। क्योंकि उसके ग्रन्थ प्रायः कर के पाली भाषामें ही हैं। संक्षेप से कहा जाय तो पालीभाषा जाने बिना भारतीय साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय धर्म की शिक्षा पूरी नहीं हो सकती। इसीसे, जब महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम० ए० पीएच० डी० गवर्नमेन्ट की आज्ञा से सीलोन (Ceylon) गये थे, तब उनके साथ आपने भी अपने दो गृहस्थ शिष्यों—पं० हरगोविन्ददास तथा पं० बेहेचरदास को पाली भाषा सीखने के लिये सीलोन भेजे थे। उन दोनोंने वहाँ रह कर थोडे ही महीनों में पाली भाषा का अध्ययन कर लिया, और उसमें अच्छी योग्यता भी प्राप्त करली।

वहाँ की विद्योदयकॉलेज में यद्यपि बौध के अतिरिक्त अन्य किसी धर्मोपदेशक का व्याख्यान नहीं होता, परन्तु इन दोनों पंडितों ने, महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्रजी की सहायता से 'जैनफिलॉसोफी' पर वहाँ से विदा होने के पहिले व्याख्यान भी दिया। और इससे वहाँ के बौद्ध साधुओं को जैनधर्म के विषय में बहुत कुछ बातें जानने को मिली।

आप के भेजे हुए इन दो पंडितों को इतने कम समय में पालीभाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त की हुई देखकर वहां के सुमंगलाचार्यादि पालीभाषा के बौद्ध आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठापत्र और तालपत्र की लिखित पुस्तकें उपहार (भेंट) में दीं, पश्चात् ये दोनों-बनारस आगये।

एक बात यहाँ पर कह देनी जरूरी है। इतना होने पर भी, आचार्य महाराजश्री ने जिस उद्देश्य से पं० हरगोविन्ददास तथा पं० बेहेचरदास को सिंहल भेजे थे, वह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ। आपने इन दोनों को पालीभाषा जान करके यह जानने की इच्छा से भेजे थे कि, जैन और हिन्दू दर्शन शास्त्रों में बौद्धमत का जो पूर्वपक्ष है अर्थात् बौधों के जो

असली सिद्धान्त हैं, वे मूल पाली ग्रन्थों में किस तरह हैं ? । परन्तु सीलोन में इन लोगों को यह बात सम्यक्तया प्राप्त न हुई । क्योंकि सिंहलद्वीप में बौद्ध साधु दर्शनशास्त्र पर चर्चा ही नहीं करते । इस लिये सिर्फ पाली भाषा के जानने का ही अवसर मिला ।

इस प्रकार आपने प्राचीन साहित्यप्रचार के लिये जो कुछ किया है, और अब भी करते हैं, इस से पाठक परिचित हो गये होंगे । धीरे २ आचार्य श्री को यह भी विदित हुआ कि, 'वर्त्तमान पत्र' यह इस काल में सर्व मान्य और सर्व प्रिय साधन है । वर्तमानपत्र के द्वारा एक साथ हजारों कोस दूर बैठे हुये मनुष्यों को भी प्रतिबोध मिल सकता है । मनुष्यों के दुर्विचारों को हटा कर उन में सद्विचारों का संचार करा सकते हैं । परमात्मा के सच्चे मार्ग को प्रकाशित कर सकते हैं और उसके द्वारा अपने हृदयों की भावनाएं दूसरों के अंतःकरणों में जमा सकते हैं । इत्यादि विचारों से जैनों में एक ऐसे शासन प्रेमी वर्तमान पत्र की आवश्यकता आप को मालूम हुई । आप और आपके विद्वान् शिष्य समयानुकूल धार्मिक-ऐतिहासिक-नैतिक लेखों के लिखने में समर्थ थे, इससे आप के गृहस्थ शिष्य श्रीयुत हर्षचन्द्र भूराभाई ने एक 'जैनशासन' नामक पाक्षिक पत्र १९६७ की साल से निकालना प्रारंभ किया ।

मी० हर्षचन्द्रभाई ने इस पत्र को, बडी योग्यता के साथ दो वर्ष पाक्षिकरूप से चलाया । तीसरी साल के प्रारंभ से आपने इसको साप्ताहिक कर दिया । पश्चात् एक वर्ष चलाकर कई अनिवार्य कारणों से इसको दूसरे के स्वाधीन कर दिया । इस पत्र के प्रारंभ से ही आचार्यश्री ने एक 'धर्मदेशना' नामक रहस्यपूर्ण-गंभीर लेख शुरु किया था, जो कि चार सालतक निरंतर इस पत्र में आता रहा । इस लेख में आपने जैनधर्म के एक एक तत्त्व को ऐसा स्फुट कर दिखाया है, कि बालबुद्धि से लेकर के पंडित तक अच्छी तरह समझ सकते हैं । आप के इस लेख की तारीफ इसके पढने वालों ने वार २ की है ।

इस तरह आपने एक पत्र को निकलवा करके भी जैनों में एक नई जागृति पैदा की है । जैन समाज में जमाने को पहचानने की शक्ति

उत्पन्न करवाई है, और पाश्चात्य देश के लोग किस प्रणालि से-किस प्रकार के उद्यम से साहित्य के कार्य को कर रहे हैं, यह बहुत अच्छी तरह जैनों में इस पत्र के द्वारा प्रसिद्ध कर दिया है।

सार्वधर्म-परिषद् में व्याख्यान

बंगाल में एक धर्मोपदेशक के रूप में विचरने से और विशेष कर कलकत्ते की बड़ी २ संस्थाओं में पब्लिक व्याख्यानों के होने से आप की कीर्त्तिलता सर्वत्र फैल चुकी थी। अब शायद ही कोई विद्वान् या प्रसिद्ध पुरुष इस बात से अज्ञात रहा होगा कि-'आप जैनधर्म के ही नहीं, सर्वशास्त्रों के ज्ञाता हैं, और आपका उपदेश सर्वसाधारण पर भी बड़ा भारी प्रभाव डालता है।' आपकी इस प्रसिद्धि के कारण ही जहां कहीं बडे २ जलसे या वार्षिक अधिवेशन होते थे, वहां पधारने के लिये और व्याख्यान देने के लिये अक्सर करके आपको निमंत्रण आया करते थे। आप भी वैसी सभाओं में जाने और व्याख्यान देने में न्यूनता नहीं, परन्तु धर्म का गौरव समझते थे। पाठक जानते ही हैं कि-आप उन संकुचित विचारवालों की श्रेणी के नहीं हैं, जो जाहिर व्याख्यानों के देने में अपनी न्यूनता समझते हैं। आप बडे ही उदार विचार के हैं। आपका यह मन्तव्य है कि-साधुओं को मुफ्त की रोटी खाकर बैठे रहना, बिलकुल अनुचित है। भारतवर्ष के छप्पन लाख साधु यदि थोडा २ भी भारतसन्तानों का उपकार करें, तो भारत का अभी उद्धार हो सकता है। परन्तु अफसोस इस बात का है कि-भारत के साधु बहुधा नाम के साधु रह गये हैं। माल-मसाले उडाना, बडी २ हवेलियां बनवाकर उसमें रहना, हाथी, घोडे, खेत, गाडी, बैल वगैरह रखना, और संक्षेप में कहा जाय तो हजारों और लाखों की पूंजी पर तागडधिन्ना करना, यह साधु लोग अपने साधुत्व का चिह्न समझ बैठे हैं। ये कहां समझते हैं कि-'गृहस्थानां यद् भूषणं तद् साधूनां दूषणम्'। फिर उप-

कार का नाम नहीं। साधुओं के लिये यह कितनी शरम की बात ?।
इतना होने पर भारत के लिये यह सौभाग्य का विषय है कि-जैन
साधु इन बातों से बचे हुए हैं। वे सर्वथा त्यागी-निस्पृही और ऐसे
पंचमकाल में भी बड़े कठिन आचारों का पालन करते हैं। जैसे—
निरन्तर पैदल ही चलना, कंचन कामिनी के सर्वथा त्यागी, परिमित
वस्त्रों को धारण करना और उनको भी अपने ही स्कंध पर उठाना,
एक ही घर से भिक्षा न लेकर अनेक घरों से (माधुकरी) थोड़ा थोड़ा
लेकर अपना निर्वाह करना, गृहस्थों से अधिक परिचय न करना, चौ-
मासे के चार महीने एक स्थान में रहकर, आठ महीने गांव २ विचरना,
और अपने केशों का छे छे महीनों पर लुंचन करना, इत्यादि कठिन आ-
चारों को अभी तक पालन करते हैं। इतना होने पर भी हम हमारे
जैन साधुओं के लिये इतना ज़रूर कहेंगे कि-उनको उदार विचार रख
करके जैनों को ही नहीं, परन्तु सर्वसाधारण को उपदेश देने की प्रणाली
रखनी चाहिये। क्योंकि जब तक पब्लिक में भाग नहीं लिया जायगा,
तब तक हम अपने विचारों का कभी प्रचार नहीं कर सकेंगे।

हमारे चरित्रनायक जी ने जब से इस प्रणालिका हाथ में लिया, तब
से आप कितना उपकार कर सके हैं, पाठक अच्छी तरह देख गये हैं।
आज आपको भारत के समस्त धर्म वाले समानभाव से पूजते और
मानते हैं, उसका खास कारण यही है कि—आप सर्वसाधारण को समान
भाव से आत्मोद्धार का मार्ग दिखलाते हैं। और इसीसे आप को बड़ी २
धर्मसभाओं में व्याख्यान देने के लिये निमंत्रण भी हुआ करते हैं।

इ० स० १९०९ में, जब कलकत्ते में सार्वधर्म—महापरिषद् (कन्वेन्शन
ऑफ रीलिजन्स इन इंडिया) का प्रथम अधिवेशन हुआ, उस समय,
इस परिषद् के मंत्री बाबू शारदाचरणमित्र, कलकत्ता हाईकोर्ट के भूत
पूर्व जज्जने, श्रीसूरीश्वरजी को परिषद् में पधारने और जैन धर्म के विषय
में एक निबन्ध लिखने के लिये खास निमंत्रण किया था। इस निमंत्रण
को स्वीकार करके आपने 'जैनतत्त्व' विषयक निबंध लिख कर, अपने
प्रतिनिधि को पढ़ने के लिये भेजा था।

१२

इसी तरह इ० स० १९१० में जब इलाहाबाद में इसी महापरिषद् का दूसरा अधिवेशन हुआ, तब भी आप को पधारने के लिये निमंत्रण हुआ था। इस समय बनारस से इलाहाबाद समीप होने के कारण स्वयं आप अपने शिष्य मंडल के साथ पधारे थे, और 'जैनशिक्षा' विषयक निबंध पढ़ा गया था। आपके इस व्याख्यान का प्रभाव बहुतही प्रभावशाली हुआ था। जैनधर्म की चारों ओर प्रशंसा होने लगी थी। और स्वयं महाराजा दरभङ्गा नरेश ने, जोकि उस परिषद् के सभापति थे, इस व्याख्यान की तथा जैन धर्म की तारीफ़ की थी।

उस समय सुप्रसिद्ध 'जैन' पत्र के सम्पादक ने अपने पत्र के एक अंक के एडिटोरीयल लेखमें, आप की कर्त्तव्यनिष्ठता की तारीफ़ करते हुए कहा था:—

"तमाम धर्मोनी जे बीजी परिषद् श्रीअलाहाबाद खाते गयाना आगला अठवाडिये मळी हती, तेम आपणा पूज्य महान् मुनिराज धर्म विशारद—जैनाचार्य मुनिराज धर्मविजये श्रीबनारसथी विहार करी अलाहाबाद जई हाजरी आपी हती अने त्यां तेमणे जे हिन्दी निबंध वांच्यो हतो, तेनुं आखुं भाषान्तर अमे गये अठवाडिये आप्युं हतुं। ते ऊपर थी वांचनारे जोयुं हशे के आपणा पूज्य मुनिराजे जैनधर्मसाचववानो जे भगीरथ प्रयास कर्यो छे, ते माटे तेमने धन्यवाद घटेछे। आपणे अंग्रेजी रीत भांत अनुकरण करता शीख्या नथी, अने जे कंई शीख्या छीए, ते मात्र स्त्रियोने शणगारी देदिप्यमान बनावतां ज। पण आ अनुकरण नथी, पण बदी छे, अनि अंग्रेजो धिक्कारे छे। सारा गुणनुं अनुकरण तेज अनुकरण—चारित्रवान थवुं तेज अनुकरण। गमे तेम पण आजे कोई पादरी के बीशप होत, अने तेणे आवुं भाषण आप्यु होत तो आखी दुनियामां तेनां वखाण थात। पण आपणामां तो घरघरना गच्छो, उपाश्रय उपाश्रयना श्रावक त्यां विचार करवो शो? धर्मविजये कर्युं तेथी इन्द्राविजयने शुं? आम लोकमान्यता छे। धर्मविजये जे निबंध वांच्यो छे, ते पोतानी कीर्त्ति माटे नहीं, पण तेमने आमंत्रण हतुं अने आवुं आमंत्रण एक मुनिने आवे, ते कांई जेवुं तेवुं नथी।

आवीज रीते गई अने आ परिषद्‌मां पूज्यश्री धर्मविजयने नोतरवामां आव्या हता, अने तेमणे पोतानी फरज अदा करी छे, ते माटे तेमने धन्यवाद घटे छे। दरेक स्थलना जैनो जो कृतज्ञ होय, धर्माभिमानी होय अने पोताना धर्मनी गौरवता होय तो मुनिश्रीनी खातर नहीं, पण भविष्यमां तेमनुं अनेक मुनिमहाराजाओ अनुकरण करे, तेमना पगले ज्ञान मेलवे, ते माटे तेमने अभिनन्दन आपनारा पत्रो लखवानी जरूर छे। आटली सूचना करवानुं कारण ए छे के, आम जो थाय, तो बीजा पूज्य मुनिराजो विशेष उपयोगी थवा प्रयास करे।

गया वर्षे जे निबंध वांचवामां आव्यो हतो, ते जैनतत्त्वो संबंधी हतो अने आज जैनधर्म शुं शिक्षण आपेछे, ते हतो। एटले गयावर्षे तेमणे जैन धर्म Principles बताव्या छे, ज्यारे आ वर्षे तेमणे Teachings बताव्या छे। आम जैनधर्मनुं साधारण ज्ञान मेलववा इच्छनार माटे आ बे निबंधो बहुज उपयोगी छे अने तेथी आ बन्ने निबंधो साथे छपावी जो छूट थी व्हेंचवामां आवे, तो लाभ लें। माटे अमे इच्छीए छीए के कोई व्यक्ति आ परमार्थ जरूर करशे[1]।

आवा निबंध ऊपरथी बांचनारा जोशे के आठ वर्ष थयां आ इलाको छोड़ी उक्त मुनिराजे जे ज्ञान संपादन कर्युंछे, ते कोई पण मुनिराज ने टक्कर मारे तेम छे अने जे व्यक्तिए हजारो रुपियानो व्यय कर्यो छे, तेनुं ते करता कोटीगुणुं पुण्य बांध्युं छे। आपणा आ पवित्र मुनिराजे जेम ज्ञान संपादन कर्युं छे, तेम केटलाकोने बुद्धिशाली वक्ता अने विचारको बनाव्या छे। अनेक उत्तम पुस्तकोनुं शोधन करी प्रसिद्धिमां आणी पूर्व अने पश्चिमना विद्वानो ने जैनसाहित्यना अभ्यासी बनाव्या छे। आ कार्यनी जो कोई तुलना करे, तो अमे पहलुं तो कहीशुं के एक हजार देरासरो बंधावा थी जे कांई पुण्य थाय, ते करतां लक्षगुणुं पुण्य आवुं ज्ञान फेलावथी

१ 'जैन' अधिपति की सूचनानुसार 'जैनतत्त्वदिग्दर्शन' 'जैनशिक्षादिग्दर्शन' ये दोनों निबंध जैनों में ही नहीं, परन्तु समस्त प्रजा में इतने रुचिकर हुए कि, जिनकी एक हजार नहीं, परन्तु कई हजार कापियां आज तक छप कर वितीर्ण हो चुकी हैं।

थयुं छे। आपणा पूज्य मुनिराजो, अमने पूर्ण आशा छे के आवा मुनिराजनो तो दाखलो लई पोतानो अभ्यास ववारी धर्मप्रवर्तनमां सहाय थशे।"

'जैन' पत्रके एडीटर महाशय का लिखना वास्तव में सत्य है। जब तक जमाने के अनुकूल कार्य नहीं किया जायगा, वहां तक जैनों का उदय होना कठिन है। और इस के लिये जैसे हमारे चरित्रनायकजीने इस ओर दृष्टि दौड़ाई है, उसी प्रकार जैनों के और उपदेशक-साधु मुनिराजों को भी दृष्टि देनी चाहिये।

पहिले कहा जा चुका है कि-काशीजी में आप जाहिर व्याख्यानों के द्वारा लोगोंको जैन धर्म के सिद्धान्त समझाया करते थे, उसी प्रकार कभी २ काशी के आस पास के छोटे मोटे गांवों में भी चले जाते थे और इसी प्रणालिसे 'जीवदया' 'मनुष्य कर्तव्य' वगैरह सर्वसाधारण विषयों पर व्याख्यान देकर लोगोंको सन्मार्ग दिखलाते थे।

जैसे कि, मिर्जापुर में, जहां कि-८० हजार मनुष्यों की वस्ती में जैनों के सिर्फ छे-सात ही घर हैं, पधार कर पांच दिन बराबर भिन्न २ विषयों पर व्याख्यान देकर समस्त प्रजाके चित्तों को आकर्षित कर लिये थे। और जैन धर्म के विषय में लोगों के जो दुरभिप्राय थे, उनको भी नष्ट कर दिये थे।

इस प्रकार काशी के आस पास के अनेक गावों में विचर कर आपने जैन धर्म के मोट मोटे सिद्धान्तों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और संतोष) के प्रचारार्थ भी प्रयत्न किये।

जीवदया के वृक्ष का रोपण

लोकप्रवाह जिस मार्ग में बहा जाता हो; वह मार्ग सीधा हो चाहे टेढ़ा, परन्तु उसमें भूले पड़े हुए मनुष्यों को सच्चे मार्ग का ज्ञान नहीं कराते हुए, स्वयं ही साथ में वह जाना, यह वैसा ही है, जैसा कि अंधों की जमात में पंगु का प्राधान्य। महात्माओं की कर्तव्यपरायणता

इसमें नहीं है। महात्माओं की कर्तव्यपरायणता अथवा यों कहिये कि-महात्मावृत्ति वही है कि-सद्मार्ग से पराङ्मुख होकर इधर उधर भटकते हुए मनुष्यों को ठिकाने पर लाना।'

यद्यपि आचार्यश्री ने, काशी में इतने वर्षों पर्यन्त की स्थिति में समाजोपकारी आशातीत कार्य कर दिये थे। अर्थात् जहां जैन के नाम से लोग घृणा करते थे, वहाँ आपस के द्वेषानल को दूर कराकर जैन और हिन्दुओं को आपस में प्रेम की एक रस्सी में परिवेष्टित कर दिये थे और स्वस्थापित पाठशाला से अनेक विद्वान् भी तैय्यार कर चुके थे। परन्तु एक और अत्यावश्यकीय कार्य वाकी रहा हुआ था, इसके लिये आप के अंतःकरण में प्रतिक्षण विचार रहा करते थे।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि काशी, जितना हिन्दुओं के लिये पवित्र तीर्थ माना गया है, उतना जैनों के लिये भी है, और उतना ही बौद्धों के लिये भी। हज़ारों और लाखों रुपयों का काशी में दान हुआ करता था। विद्याध्ययन के लिये नई नई पाठशालायें खुलती रहती थीं। और सैकड़ों की संख्या में क्षेत्र (अन्नक्षेत्र) भी मौजूद थे। परन्तु पशु और पक्षियों की रक्षा के लिये, काशी जैसे पवित्र क्षेत्र में एक भी ऐसा स्थान नहीं था, जहाँ दुःखी पशु पक्षियों को रक्खे जायँ। जहाँ कहीं कोई भी जानवर गिरता, वहाँ ही वह लोगों के पैरों से किचड़ा किचड़ा कर अपनी आयुष्य को पूरी कर देता। और जिन देवियों के सामने वध नहीं होता था, वहाँ चढ़े हुए-अमर किये हुए बकरों की भी आयु कसाइयों की छूरी के द्वारा ही पूरी हो जाती थी। क्योंकि माता के सामने आए हुए बकरों को, पूजारी लोग कसाई को ठेके से ही दे देते थे। इस दया जनक अवस्था को देख आप के अन्तःकरण में प्रतिक्षण काशी में एक पशुशाला (पिंजरापोल) होनी चाहिये, यही विचार उत्पन्न हुआ करता था।

यद्यपि आप का यह विचार बहुत ही प्रशस्य था, परन्तु उसके प्रकाशित करने में भी बहुत सावधानता की आवश्यकता थी। आप खूब समझते थे कि किसी भी विचार को जनसमाज के सामने तबही रखना

चाहिये, जब कि अपने को यह विश्वास हो जाय-जनसमाज की यह स्थिति देखी जाय कि 'अब वह अपने विचार को विवेक पूर्वक उठा लेगा; और कार्य की नींव दृढ़ रक्खेगा।' इस लिये, कार्य सिद्धि के लिये आपने पहिले काशी के बड़े बड़े रईस तथा श्रीमान् काशी राज को प्रसंग २ पर मुलाकात लेकर के उपदेश के द्वारा जीवदया की जड़ मजबूत की। और धीरे धीरे काशी के बड़े २ तमाम लोगों के अन्तःकरणों में यह बात सम्यक् प्रकार से जँचादी कि—"काशी में एक ऐसी पशुशाला की अत्यन्त ही आवश्यकता है कि जिसमें समस्त प्रकार के दुःखी पशु पक्षियों की रक्षा की जाय।" दया से बहुत दूर रहे हुए प्रदेश में, जहाँ कि मांस का स्पर्श तक भी नहीं करनेवाले शुद्ध वैष्णव मार्गी भी यह समझे हुए थे कि, बकरे जैसे प्राणी, सिवाय कसाइयों के मारने के और किस काम में आ सकते हैं ?" वहां उन्हीं पशुओं की पशुशाला में रक्षा करने का विचार होना, कम बात नहीं थी।

एक बात प्रसंगवश कह देनी चाहिये । इस पशुशाला के विचार को दृढ़ कराने के लिये, जब आप, लोगों के मकानों पर जाते थे, उस समय आप का सभी स्थानों में सत्कारही होता था, ऐसा नहीं। आप को कभी कभी अनेकों प्रकार की तकलीफें भी उठानी पडती थीं। कई जगह असत्कार का सामना भी करना पड़ता था। परन्तु जब लोग आप के उपदेश को श्रवण करते थे, 'पुनर्भव', 'कर्म', 'आत्मस्वरूप' 'जीवों के भेद', 'जीव हिंसा न करनी चाहिये ?' और 'जीवदया के प्रचार के लिये किन २ बातों की आवश्यकता है ?' इत्यादि विषयों को आप समझाते थे, तब लोग आप की विद्वत्ता और परोपकार परायणता पर मुग्ध हो जाते थे। और आप के उपदेश को स्वीकार ही कर लेते थे। अस्तु !

परिणाम में जब आप ने यह देख लिया कि-"अब लोगों के अन्तः-करण में ठीक ठीक दयादेवी ने निवास किया है। लोग प्राणिरक्षा की आवश्यकता को समझने लगे हैं, अविचार के आवरण दूर हुए हैं, और इस भूमि में भी जीवदया का वृक्ष अच्छी तरह से वृद्धि को प्राप्त होगा,

तब, आपने टौनहाल, थियेटर जैसे प्रसिद्ध स्थानों मे पशुशाला की आवश्यकता के ऊपर प्रभावशाली व्याख्यान देकर काशी की समस्त प्रजाके चित्तों को आकार्षित कर लिया। और शुभ मुहूर्त में गाय घाट पर पशुशाला स्थापित करवाई।

बहुत से लोग मान बैठे हैं कि—"पशुशाला (पींजरापोल) चलाना यह जैनों का ही कंट्राक्ट है।' परन्तु यह बडी भारी भूल है। निराधार और व्याधिग्रस्त जीवोंपर दया करनी, उनको बचाना और रक्षण करना यह मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। और यही बात आचार्यश्री सब को समझाते थे। जिसके अंतःकरण में दया देवी ने निवास किया है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' इस महावाक्य को जो सम्यक् प्रकार से समझते हैं, और 'दीन और दुःखी जीवों को रक्षण करना, यह मनुष्य धर्म है,' ऐसी भावना ही मनुष्य हृदय का प्रधान मंत्र है, ये सारें विचार जिसके अन्तःकरण में निवासित हो चुके हैं, वे समस्त मनुष्य, फिर वे चाहे जैन हों वा वैष्णव हों, हिन्दू हों वा मोहमदन हों, इसाई हों, वा बौद्ध हों, सब कोई ऐसी पशुशाला के रक्षक बन सकते हैं। बस, यही आप के उपदेश का सार था। और इसी के परिणाम से, काशी में आप के उपदेश से जो पशुशाला स्थापित हुई, उसके रक्षक जैन और हिन्दू धर्म्मानुयायी महानुभावही नहीं हुए, किन्तु मुसलमान और इसाई मजहब को मानने वाले बडे २ विद्वान् भी हुए। और इसी के कारण उपर्युक्त पशुशाला अभी तक बराबर निराबाध चल रही है। इस पशुशाला में महाराजा काशीराजने सबसे अधिक सहायता की है। एवं इसके प्रधान रक्षक ऑनरेबल बाबू मोतीचन्द जी साहेब सी. आई. ई. हैं। आप की रक्षणता सेही पशुशाला का कार्य अभी तक बराबर चल रहा है।

महाराजा काशीराज ने उपर्युक्त पाठशाला में बड़ी सहायता ही की है, इतना ही नहीं, परन्तु 'पशुशाला' और 'यशोविजयपाठशाला' के प्रति आप कितनी प्रेमदृष्टि रखते हैं? यह आपने अपने शब्दों और वर्तन में स्पष्ट दिखला दिया है।

जिस समय महाराजा बहादुर काशीराज सर श्रीप्रभुनारायणसिंह जी. सी. आइ. ई. को श्रीमती भारत गवर्नमेन्ट की तर्फ़ से स्वतंत्र अधि-

कार मिला, उस समय भारत वर्ष की समस्त जैन कमेटी की तरफ से श्रीयशोविजयपाठशाला की मार्फत एक मानपत्र, [एड्रेस] दिया गया था। इस मानपत्र में प्रधानतया पशुशाला और जैनपाठशाला के प्रति आप की जो रहम दृष्टि रहा करती थी, इसके लिये उपकार माना गया था, और साथही साथ, जैनों के तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ जी के पिता इसी राज्यगद्दी के भोक्ता थे और उसी तख्त के उत्तरोत्तरवारसे में महाराजा श्रीकाशीराज आए हैं, इसका उल्लेख कर, श्रीकाशीराज और जैनों का घनिष्ठ संबंध दिखलाया गया था। तत्पश्चात् अन्य-राज्यों की तरह इस राज्य में भी पर्युषणापर्व के आठ दिन, श्रीनरेशका जन्म दिन, तख्तनशीन दिन, कुमार जन्मदिवस, पितृतिथि, मातृतिथि, महाराणी जन्मदिवस, सम्राट् जन्मदिवस, सम्राज्ञी जन्मदिवस, सम्राट्तख्त नशीन दिवस एवं दशहरे के दिनों में जीवहिंसा बिलकुल बंद करने का हुक्म निकालने का, विनयपूर्वक लक्ष्य खेंचा गया था।

इस मानपत्र के उत्तर में महाराजा काशीराज ने जो आन्तरिक शब्द उच्चारण किये थे, वे सब मनन करने लायक हैं। आपने कहा थाः—

"GENTLEMEN,

"I am exceedingly touched by the welcome you have accorded me today, and by the most kind words you have spoken of me.

It is an honour which I assure you, I have appreciated most and shall never forget this mark of good will on the part of the Jain community, which is one of the most loyal, peaceful, practical, self-sacrificing and progressive communities in India.

It will be my constant endeavour to meet out equal treatment to my subjects professing any creed or religion and the Jain community in my State shall certainly receive full consideration.

You have made mention of the *Jain Pathashala* and of the *Pashushala* in your address.

Both of these institutions are sure to do good to the country, under the able guidance of *Jainacharya Sri Vijaya Dharma Suri* who by the way is regarded by us as an acquisition to our town and whose life here has been an example of self-sacrifice and usefulness. I am confident both these institutions are sure to be progressive and productive of much good to humanity.

I shall keep your request about *Jeevhinsa* in mind, and shall see what it is possible to do towards this end.

In the end, gentlemen, I convey to you my most heartfelt thanks for the trouble you took to come so far to honour me, and I assure you I shall ever remember your kindness with sincerest gratitude."

भावार्थः—"सज्जनो ! आज आपने मेरा जो स्वागत किया है, और प्रीति से भरे हुए शब्दों के मुझ पर जो प्रयोग किये हैं, इससे मेरा हृदय अत्यन्त प्रसन्न होता है।

मैं आप लोगों को निश्चय रूप से कहता हूँ कि-यह एक ऐसा संमान है कि, जिसका मैं, अन्य समस्त संमानों से विशेष आदर करता हू। भारत में राजभक्त, शान्तिप्रिय, कार्यकुशल और निःस्वार्थ जातियों में जो जो अग्रगण्या हैं, उनमें जैन जाति भी एक अग्रगण्या ही है। ऐसी जैनजाति ने मेरे पर जो शुभाभिलाषा प्रकट की है, इसको मैं कभी न भूलूंगा। मेरी हमेशा के लिये यह चेष्टा रहेगी कि, कोई भी जाति या धर्म की-मेरी समस्त प्रजा को मैं समदृष्टि से देखूं। अतएव मेरे राज्य में जैनजाति के हक्क (अधिकार) का भी संपूर्ण विचार होगा। आपने, इस संमानपत्र में जैन पाठशाला और पशुशाला का उल्लेख किया है। ये दोनों शालाएं जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी के योगपथप्रदर्शन के कारणभूत इस देश में निश्चय से बहुत ही उपकार करेंगी। प्रसंगवश यहाँ मैं इतना कहना चाहता हूं कि—

श्रीविजयधर्मसूरिजी का मेरे इस नगर में रहना, इस नगर को अत्यन्त लाभदायक है। यहाँ उनका जीवन, स्वार्थत्याग और उपकार के आदर्शरूप ही है।

मुझे संपूर्ण विश्वास है कि, यह पाठशाला और पशुशाला हमेशा के लिये उन्नति करतीं रहेंगी। और इसके साथ ही साथ मानवजाति का हित भी।

अहिंसा के विषय में आप लोगों ने मेरे प्रति जो अनुरोध किया है, उसको मैं हमेशा मेरे स्मरण में रक्खूंगा। जहाँ तक संभव होगा, वहाँ तक इस उद्देश के साधनों को दृष्टिगोचर रक्खूंगा।

महोदयगण! इस उत्तर को समाप्त करते हुए मैं आप को आन्तरिक धन्यवाद देता हूँ कि, आप मुझको संमानित करने के लिये इतने दूर देशों से आए हैं, और आप लोगों को इस बात से भी निश्चय कराता हूँ कि-आपने मेरे पर जो कृपा की है, उसको मैं कृतज्ञता पूर्वक हमेशा स्मरण में रक्खूंगा।"

महाराजा काशीनरेश का व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् श्रीसूरीश्वरजी महाराज ने भी प्रसंगानुरोध से कहा:—

"महाराजा बहादुर ने संमानपत्र का जो संतोषकारक उत्तर दिया है। वह हमारी जैनप्रजा के लिये कम आनंदजनक बात नहीं है। श्रीमान् काशीराज की नीतिनिपुणता और निष्पक्षपातता, उन्हों ने दिये हुए उत्तर पर से अपने को आदर्शरूप हुए सिवाय रहती नहीं है। नीति और प्रीति के आधार से ही इस संसारपथ में प्रत्येक कार्य हुआ करते हैं। कहने की आवश्यक्ता नहीं है कि नीति, धर्म को बढानेवाली है। बल्कि धर्म का मूल है। और प्रीति आपस आपस के संबंध को दृढ करती है। इन दोनों का महाराज़ा बहादुर कैसा रक्षण करते हैं? इस बात को आप के हृदयोद्गार ही दिखा देते हैं।

सज्जनो! मैं एक जैनभिक्षुक हूँ। अतएव मुझको इस विषय से यद्यपि कुछ ताल्लुक नहीं है। तथापि मैं निष्पक्षपातता से इतना कह सकता हूं कि-शान्तिप्रिय महाराजा बहादुर को स्वतंत्र अधिकार के मिलने से, आप समस्त प्रजाओं की तर्फ से धन्यवाद के पात्र बने हैं। वैसेही शान्ति

प्रिय जैनप्रजा ने उचित समय को पहचान, जो अपनी फर्ज अदा की है; इसके लिये यह भी धन्यवाद के पात्र ही है।"

इस प्रकार आप के पुरुषार्थ से काशी जैसे क्षेत्र में जीव दया के वृक्ष ने भी अपनी जड़ मजबूत कर ली। और उसके प्रति, काशी की समस्तप्रजा एवं स्वयं महाराजा काशीराज की कहाँतक शुभ दृष्टि बढ़ी, यह भी पाठक उपर्युक्त वृत्तान्त से देख चुके हैं। और इससे भी अधिक निश्चय, पाठकों को तब हो जायगा, जब कि, आचार्यश्री के गुजरात में प्रयाण करने के समय काशी के जैनेतर पंडित, बाबूगण एवं प्रतिष्ठित मंडल ने जो अभिनंदन पत्र दिया है, उसको पढ़ेंगे। यह अभिनंदनपत्र ज्यों का त्यों 'गुजरात की ओर प्रयाण' वाले प्रकरण में दिया गया है।

योगशास्त्रका संशोधन

'साहित्य प्रचार' वाले प्रकरण में यह अच्छी तरह दिखलाया गया है कि जैनसाहित्य का–जैनसाहित्य के अगम्य रहस्य का समस्त विद्याप्रेमी लोग किस प्रकार विशेषेण लाभ उठावें, इस के लिये आप कितना अविश्रान्त उद्यम कर रहे हैं?। एक ओर 'श्रीयशोविजय ग्रंथमाला' को निकलवा कर अलभ्य प्राचीन जैनग्रंथों को प्रकाशित करवा ही रहे थे, इस बीचमें आपने एक बड़े भारी महत्त्व के ग्रंथके संशोधन करने का बीड़ा उठाया।

कलकत्ते की 'एसियाटिकसोसाइटी ऑफ बंगाल' से कोई भी विद्वान् अपरिचित नहीं है। यह सोसाइटी संसार सुधार का या ऐसा कोई कार्य नहीं करती है, परन्तु पूर्वदेशीय प्राचीन अन्वेषणादिकार्यों के अतिरिक्त किसी भी धर्म के प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशित करने का कार्य भी करती है। इस सोसाइटीने आजपर्यन्त अनेकों जैनग्रंथों को भी प्रकाशित किया है। सं० १९६३ की साल में सोसाइटी ने कलिकाल

सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित 'योगशास्त्र' को (सटीक) प्रकाशित करने को चाहा। इस समय आप कलकत्ते ही में विराज रहे थे। इतनाही नहीं, परन्तु आप के पब्लिक व्याख्यानों की भी खूब घूम मच रही थी और सोसाइटी के कई सभ्य आप की विद्वत्ता का आस्वाद भी ले रहे थे। सोसाइटी के कार्यकर्त्ताओं को यह ज्ञात हो चुका था कि—आप एक बड़े भारी विद्वान् और जैनधर्म के अच्छे तत्त्वज्ञानी हैं। ऐसा समझ कर सोसाइटी ने 'योगशास्त्र' के संशोधन का कार्य आपही को सौंपा। और आप के कलकत्ते में विराजतेही इसका प्रथम भाग बड़ी योग्यता के साथ प्रकाशित भी हो गया। जिस समय यह प्रथम भाग एतद्देशीय और पाश्चात्य विद्वानों के पास पहुँचा, उसके बाद इस विषय में, आप की विद्वत्ता की कसौटी का एक अपूर्व प्रसंग उपस्थित हुआ।

एक विद्वान् का कथन है कि- 'समालोचना, यह साहित्य विकाश का प्रधान अंग है। जिस ग्रन्थकी सुस्पष्टरीत्या समालोचना नहीं होती, उसके गुणदोष उसी में ही, कागज के कीडों की तरह छिपे रहते हैं। और इससे वे ग्रंथ जैसे चाहिये वैसे उपयोगी नहीं हो सकते। हमारे जैनों में न मालूम क्याही एक प्रकार की चाट लग गई है कि, जिसके मनमें आता है, वह, ग्रंथ प्रकाशक-संशोधक अथवा ग्रन्थकर्त्ता बन बैठता है। फिर चाहे उसमें तद्विषयक योग्यता हो चाहे न हो। लेकिन जब तक ऐसे ग्रंथोंकी समालोचना करने वाले सच्चे समालोचक बाहर नहीं आवेंगे, तब तक इसमें सुधार होने का नहीं। खेदका विषय है कि–'सरस्वती' सम्पादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी जैसा, जैनों में एकभी समालोचक नहीं दीख पड़ता। कदाचित कोई होगा भी, तो वह यह समझ कर के चुप रहता होगा कि–'फलाने ग्रन्थ के गुण दिखावेंगे, तब तो ठीक है, लेकिन यदि कहीं दोष दिखलावेंगे, तो ग्रंथकार या ग्रंथप्रकाशक हम को, अपनी सात पीढ़ियों का शत्रु समझ लेगा'।

बात भी ठीक है। जब तक 'समालोचना' साहित्य क्षेत्र में कितना उपकार करती है, इस बात के समझने की शक्ति प्राप्त न हो, तब तक लोग ऐसा समझ लें, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? । हाँ एक बात कह देनी जरूरी है। समालोचक में भी उस विषय की योग्यता, निष्पक्ष-

पातता और सभ्यता वगैरह गुण अवश्य होने चाहियें। अंगत राग-द्वेष को छोड़कर, शुद्ध हृदय से जो मनुष्य समालोचना लिखने को बैठता है, वही यथार्थ समालोचना लिख सकता है।

आप के एडिट किये हुए योगशास्त्र का प्रथम भाग, जब विद्वानों के पास पहुँचा, तब बहुत से विद्वानों नें, इसकी अच्छी समालोचना की। परन्तु इटली के एक विद्वान्, जिनका नाम डॉ० बेलोनी फिलपी है, उन्हों ने 'एसियाटिक सोसाइटी ऑफ जर्मन' के त्रैमासिक के LXII, Pages 782 to, 787, अंकमें इसकी एक बड़ी विस्तृत किन्तु कडी आलोचना प्रकट की। इस समालोचना के प्रारंभिक भाग में आक्षेप करते हुए आपने लिखा था:—

"प्रोफेसर जेकोबीके कहने से और भावनगर की जैन धर्मप्रसारक सभा, कि जिसने मुझको योगशास्त्रवृत्ति की तीन प्रतियाँ दी थीं, उस ने मेरा पुस्तक छपवाकर प्रगट करने का बचन भी दिया था। और इसी से, मैंने योगशास्त्र वृत्ति की विवेचनात्मक आवृत्ति का कार्य उठाया था। और छपवाने के लिये प्रथम प्रकाश की मेरी प्रेसकापी जब तैय्यार हुई, तब तुरन्तही अकस्मात् वह सभा अपने वचन से फिर गई। क्योंकि उसी पुस्तक की आवृत्ति श्रीधर्मविजय के पास संशोधित कराकर, छपवाने का कार्य बेंगाल की एशीयाटिक सोसाइटी ने उठाया था। और उसके बाद इस आवृत्ति का प्रथम विभाग तुरन्तही प्रकट हुआ।

इस प्रकार मेरे कार्य का फल मेरे पास से चले जाने के कारण, अब मैं मेरे कार्यका उपयोग श्रीधर्मविजय जी की प्रथम विभाग की आवृत्ति की समालोचना पूर्वक निरीक्षण करने में करूँगा। इससे संशोधक की पद्धति की तुलना सम्पूर्ण रीति से होगी।

कोई यों कहेगा कि—'यह आवृत्ति यदि विवेचनात्मक टीकायुक्त है, तो अच्छी होनी चाहिये।' यद्यपि इस आवृत्ति के संशोधक एक अनुभवी संस्कृतविद्वान् सिद्ध हुए हैं। और जो संख्याबंध अशुद्धियाँ (भारतवर्षीय) देशी आवृत्तियों में हमेशा देखने में आती हैं; वे इस आवृत्ति में अति अल्प हैं। तथापि संशोधक में सूक्ष्म संशोधन करने

की शक्ति का पूरा अभाव है। पहिले तो उसने अपनी हस्तलिखितप्रतियों को सालवार करनेका विचार किया ही नहीं है, जिससे कि, वे अपने मूल को प्राचीन से प्राचीन उत्तम प्रतिका आधार दे सकते। यद्यपि यह बात सत्य है कि योगशास्त्र की भिन्न भिन्न आवृत्तियाँ नहीं हैं। क्योंकि, प्रतियोंके भिन्न भिन्न पाठ, ग्रंथ के अर्थ के विषय में नहीं हैं, किन्तु सिर्फ शब्दों के रूपान्तरों वगैरह के संबन्ध में ही हैं।"

इतना लिख करके आगे आपने, जिस जिस विषय को समालोच्य (आलोचना करने योग्य) समझा, उस उस विषय की–शब्द की आलोचना की है। और अन्त में जाकर आप ने यहाँ तक लिख मारा कि:–

"इस परसे हम सिद्ध कर सके हैं कि–'हमारा' पुस्तक संशोधन में, हमारा 'लेन्टे फेस्टीनेर (चाहिये उससे अधिक शीघ्रता न करनी), कि जिससे कदाचित् हिन्दुओं को आश्चर्य होगा, सप्रमाण है। ऐसी विवेचनावाली आवृत्तियाँ सिर्फ समय को नष्ट करती हैं। क्योंकि पुस्तक को फिर से संशोधन करना होगा"

अर्थात् आप के एडिट किये हुए प्रथम भाग को डाक्टर साहेब ने निरर्थक-निरूपयोगी दिखलाया।

एक प्रखर पांडित्य के रखने वाले विद्वान् के एडिट किये हुए पुस्तक की, ऐसी कड़ी समालोचना, एक पाश्चिात्य विद्वान् ने क्यों की? इसका कारण हम यहाँ स्पष्ट करना नहीं चाहते। परन्तु हम इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि–डाक्टर साहेब ने बिलकुल अनधिकार चर्चा को अपने हाथ में लिया था। डाक्टर साहेबने, 'एसियाटिक सोसाइटी ऑफ जर्मन के त्रैमासिक में ही इसकी आलोचना की, इतनाही नहीं परन्तु 'एसीयाटिक सोसाइटी आफ इटाली' के त्रैमासिक में भी इस विषय में अयुक्त आक्षेप किये थे। समालोचक महाशय ने अपने कर्तव्य में एक बात की अवश्य न्यूनता रक्खी थी। वह यह थी, कि–आपने अपनी की हुई समालोचना की एक कापी ग्रंथसंशोधक के पास नहीं भेजी थी। अस्तु।

जब आचार्यश्री ने डॉ० बेलोनी फिलपी महाशय की की हुई समालोचना देखी, तब आप को बड़ा हर्ष हुआ। आपने शीघ्र ही एक विद्वान्

से उसका अनुवाद करवा लिया। पश्चात् आप इसके प्रत्युतरके लिखनेके विचार में थे ही कि-इतने में कलकत्ते की 'एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल' ने भी, इस समालोचना के विषय में आप को सूचना दी। इतना ही नहीं, परन्तु उपर्युक्त समालोचना का प्रत्युतर लिखने के लिये भी अनुरोध किया। इस विषय में डाक्टर साहेब की समालोचना का प्रत्युत्तर देना, यह सोसाइटी जितना कर्तव्य समझती थी, उतना, बल्के उससे भी अधिक, आचार्यश्री अपना कर्तव्य समझते थे। आचार्य श्री ने शीघ्रही इस कार्य को हाथ में लिया और बडी योग्यता, गंभीरता के साथ आपने जो जवाब लिख कर 'एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल' के मासिक में प्रकट करवाया, वह अक्षरशः यहाँ उद्धृत करते हैं :—

Sri Hemacandracarya's Yoga-Sastra with the author's own commentary called Svopajna-vivarana published by the Asiatic Society of Bengal.

A Rejoinder by the Editor to the Review published in the Zeitschrift der Deutschen morgenlandischen Gesellschaft by Dr. Ferdinando Belloni-Filippi.

BY SRI VIJAYADHARMA SŪRI.

For many years it has been my duty and pleasure to teach Hemachandra's Yoga-Sastra to successive generations of Jaina Sadhus and Sravakas. The want of a critical edition of the text with the author's own commentary was keenly felt by every one engaged in the teaching and study of it. A European edition of it, that was published some 35 years ago, contained the *text only* printed in Roman character of the first four of the 12 prakasas with a German translation. This edition, therefore, was of very little use to the class of students taking real interest in its study. There was another edition containing the text only, and a Gujrati translation both of the text and the

commentary published by Bhimsi Manik, and was, therefore, not suited to the purpose of the students desiring to follow the subject in its original as laid down by the author both with respect to text and commentary. I was every now and then requested by my students to undertake an edition containing both the text and the author's own commentary on it, but owing to the scanty leisure at my disposal I was obliged to postpone this work for a very long period. Three or four forms of the fasciculus of my edition were already printed when I was informed of another edition being taken in hand by Dr. Ferdinando Belloni-Fillipi under the auspices of the Jaina-Dharma-Prasaraka Sabha of Bhavnagar. And a few days later, that Sabha sent to me for revision the first instalment of the press copy prepared by the learned scholar. This manuscript remained with me for a period of three months. Though I am not in a position to reproduce all such points which I marked then in his manuscript, I shall quote one point which I well remember and which will clearly indicate the nature of the difficulties he had to meet with in the course of his work.

For my reading बोधि, in page 5, line 9, he gives वधि and marks it as an unsolved mystery. It would never have been the case with a Jaina who knows that बोधि is a पारिभाषिकशब्द or technical word and means सम्यक्त्व It would be enough to say here, that every page of Dr. Belloni's manuscript which I examined made me more and more convinced that the Yoga-Sastra with its commentary is a book fit rather to be edited by a Jaina than by a Non-Jaina, however erudite

he might happen to be. So I continued my work as energetically as ever. In the matter of adopting the text and the variants I have followed the Indian method. The Indian Pandits as a rule adopt the authoritative and the traditional readings for their text, and in this they are guided first by the reading handed down by Guruparampara (*i e.*, by successive generations of teachers), and, secondly, by citations of passages made in other works. For instance, many of the passages in the Yoga-Sastra occur verbatim in the Mahavira-Carita (a work of great value and merit written by Hemacandra before the Yoga-Sastra) and other works written before or after the Yoga-Sastra by Hemacandra and various other writers. I have always adopted that reading in my text, which is both traditionally known to me as the original, and in which I had the support of the majority of works collated (these are thirteen in number as will be seen in the sequel).

समुन्मूलन, page 2, line 4 of my edition, was found invariably in all my manuscripts with the exception of the one marked ख (for the designation of manuscripts: *vide* the critical notice appended to this rejoinder) which has अपनयन—and this I have given as a variant in the footnote ; both these words mean the same thing and both of them equally suit the context.

Then comes my reading सानन्द, page 4, line 17. This is the reading to be met with even in the Mahavira-Carita (2nd Sarga, 67th Sloka, Trisasti-salaka-caritra, Tenth Parva, leaf 13, Jaina-Dharma-Prasaraka Sabha's edition. As regards this work of Hemacan-

dra, *vide* Peterson's Fifth Report on the Search of Sanskrit Manuscripts in Bombay Circle, pp. 4—7, April 1892—March 1895) where it is cited by the author from his Yoga-Sastra. All the manuscripts which I have got of this latter book contain सानन्द which is happier and more sensible.

Now of बिले in the S'loka कुत्राप्यन्यत्र मा यासीद् दृष्टिर्मे विषभीषणा। इति तुण्डं बिले क्षिप्त्वा पपौ स समतामृतम् ॥ २९ ॥ (page 15, line 11) which when translated runs thus:- "Let not my glance terrible like poison go anywhere else, with the object in view, he drank the ambrosia of quietitude putting his mouth into a hole." The word बिले thus means "into a hole." I cannot see what the word वले would mean in the present Sloka. Neither do I find it in any of my manuscripts of the Yoga-S'astra and of the Mahavira-Carita, where it occurs in the 269th Sloka of the 3rd Sarga. It occurs also in the same Katha by the great Haribhadra Suri, in his Avasyaka Vritti in the line ताहे सो बिले तुंडं etc., leaf 84 of our manuscript of the work. We find it again in Avassaga-nijutti-chunni of Jinadasa Mahattara in the line ताहे सो बिले तुंडं etc., page 70 of our manuscript, dated Samvat 1500. Everywhere I find बिले, and see no reason why the critic should introduce वले in this instance and mark बिले B. D. and वले A. B.,

I need not dwell much on लोष्टु (page 18, line 20) and लोष्ट; both the forms being correct, I should simply say that all my manuscripts give the form लोष्ट I consulted Mahavira-Carita (4th Sarga, 180th Sloka) on the point, there too I find लोष्ट.

Now for my reading एतत् (page 33, line 17): the variant एनत् which the critic finds in his manuscript A is grammatically wrong. According to the rule त्यदामेनदेतदो-॥ २ । १ । ३३ ॥ (Siddha-Hema) with the अधिकार of नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ३१ ॥ (S. H.) the form is inadmissible here, since there is no trace of anvadesa in the lines बहिः कथञ्चिद् यद्येतत् प्रोच्येत तथापि हि etc. It is unusual for an Indian Pandit to mention the form एनत् even as a variant in the present instance.

Now ऋषभ, which the critic suggests in place of my वृषभ (page 49, line 3), when standing immediately after एषा, may bring in some dubious points in question, and hence better to be avoided according to the rules of poetic diction. वृषभ is synonymous with ऋषभ, and its use in the present case is essential in consideration of the Prasada Guna of a Kavya. I have got वृषभ in all my MSS. It occurs also in connection with the same anecdote in the line " अस्त्वेषा वृषभस्य विष्टपपतेः पत्नी द्वितीयेत्यसौ—" in the Padmananda Kavya of Amaracandra Suri, 8th Sarga, Sloka 171 (leaf 55, of my MS.)

Then in page 68, line 12, हाराश्रीहारहरिणा नाजहाराऽतिहारिणः । चिरकालार्जितानात्मयशोराशीनिवाऽखिलान् ॥ ७९ ॥ he finds the variant राशीमिवाखिलाम् in his manuscripts A, B, and C. Manuscripts containing such a reading may be high-class ones, but the Pandits I believe, are sure to discard it as a clerical mistake. यशोराशीन् refers to हारान् by Utpreksa, and this हारान् being plural यशोराशीन् must also be plural. moreover the word राशि (and one short evident point that could be marked even by a superficial reader is that a word like राशी ending in long I, as the critic puts it in राशीमिवाखिलाम्, is nowhere to be

found in the whole range Sanskrit literature either in masculine or in feminine, I have taken therefore राशि which is but too patent a correction of राशी is never feminine according to Hemacandra and other Indian lexicographers (*vide* Hemacandra's Linganusasana, Kevalapullinga Prakarana, 15th Sloka, पक्षराशिवराश्यूषि: *vide* also the Amara, Kanda 2nd, 6th Varga, Sloka 42nd, पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्; *vide* also the Vaijayanti, Gustav Oppert's edition, page 186, line 6, राशिपुञ्जोत्करा नरि.

Again in page 83, line 5, सुरासुरनरोपास्त्या प्रीतोऽस्त्वेष मयास्य किम् the critic has in his manuscript A मयापि in place of our मयास्य. If we consider this line in connection with the one that follows this, *viz.*, मार्गे एव क्षमः स्तम्बे रथः सज्जोऽपि भज्यते, it should be thus construed एष सुरासुरनरोपास्त्याः प्रीतोऽस्तु, मयाऽस्य किम्, सज्जोऽपि रथः मार्गे एव क्षमः स्तम्बे (तु) भज्यते and the meaning we have then is "he is pleased by being served by gods, demons and men; what am I to him (मया अस्य किम् translated in the active voice); even a well-equipped chariot, adequate for the road; (but) is broken in the bush."

[Here Bharat's brother compares himself with bush: he means to say that gods, etc., helped Bharat to run smoothly in the way of prosperity, whereas he may cause his destruction just as a way through the bush may lead to the destruction of a chariot. This passage also occurs in the same story of Bharat in the Adisvara Caritram, Sarga 5, Sloka 146 (*vide* the Trisasti Salakapurusa Caritra, Jaina-Dharma-Prasaraka Sabha's edition, leaf 129)].

The reading मयाऽपि which the critic has in his manuscript A in place of our मयाऽस्य fails, as far as I can judge, to give any meaning. Our explanation is simple and suits the context.

Then again page 103, line 15. I have पुत्री प्राणप्रिया मृता in the couplet मम सर्वस्वनाशोऽभूत् पुत्री प्राणप्रिया मृता। मृत्युकोटिं वयं प्राप्ता धिगहो दैवजृम्भितम् ॥ ४६ ॥ Here the reading प्राणप्रियामृता of the critic's manuscript A is seriously objectionable, since the Samasa cannot be justified in any way; if, however, we make the Samasa, the word मृत in that case would be made the first member of the compound. If it be argued that प्राणप्रियामृता is a euphonic combination, that is also futile, since अमृता can give no meaning in the sentence.

Again in page 134, line 14, where I have given धान्यादिवापः, the critic finds धान्यावापः in all his manuscripts in its place. Now this धान्यावापः is, as is known to every Jaina, a defective reading. The word आदि is a necessary adjunct here. According. to our Sastras (*vide* Siddhasena Suri's Pravacana-Saroddhara, Tika. 67th Dvara, where the writer says यत्पुनः प्रथमत आरभ्यते स्वार्थं पश्चात् प्रभूतान यावदर्थिनः पाखण्डिनः साधुन् वा समागतान् अवगम्य तेषामर्थायाऽधिकतरं जलतण्डुलादि प्रक्षिप्यते सोऽध्यवपूरक इति) the word आदि indicates here that in addition to धान्य, *i e.*, तण्डुल water, grain, wheat, etc., should also be taken. This is the Sanskrit elaboration by Hemacandra of the Prakrit gatha which he gives at the head verbatim from the Pinda-Niryukti (*vide* leaf 18 of the MS. of the work belonging to the Royal Asiatic Society of Bengal). Malayagiri Suri in his commentary of the gatha takes the same view as we have done.

It is to be seen from the discussion given above that I do not pass over anything that comes on my way without examining it in all its details. I should further like to state, that many other similar things I come across in course of my work, and at every point I have to spare a certain amount of my energy before I can definitely put down anything either as text or variant. And with a man working in this way the work will multiply with the multiplication of independent MSS. of the work he is editing. But this is not disgusting to me: I take more interest in it as is always the case with a man to whom the task of editing a work is a labour of love.

Now it remains for me to examine critically Dr. Belloni-Fillipi's other remarks concerning my work. In page 4, line 10, in the Sloka मतुच्छमुच्छलन्ति स्म स्मार्नं कर्तुमिवार्णवाः । विवेपे सत्वरं तत्र नर्त्तमाभिमुखेव भूः ॥ ११ ॥ Here I have विवेपे, and in this connection I have the support of all the MSS. that I have got with me. On the other hand, the critic holds that the proper reading should be विवेश, since this he finds in all his MSS. and thinks it more appropriate with respect to स्मार्नं कर्तुं- and to the following तत्र. But as I understand, the word विवेश means "entered", and if the word be possibly inserted here, it must have for its nominative भूः "the earth", and as a matter of common sense the earth cannot enter as a whole into anything that is situated on its own surface, as the मेरु is. My use of the word विवेपे is justified from the following considerations: The earth is trembling (*lit.*, trembled as my reading विवेपे means) in its own place and by Utpreksa

this trembling of the earth or the earthquake caused by the Lord's pressing the Meru with his thumb(since the force exerted upon any body will be conveyed to the base through its medium) has been taken to mean "dancing" unanimously by all the commentators and translators. The word तत्र here means "on the occasions," "at the time." On this point the Gujrati translation of the Yoga-Sastra (page 3, lines 14-17) published by Bhimsi Manik referred to above and also the Gujrati translation of the Mahavira-Carita (page 21, lines 15—20) (where the very same story has been given in the very same words) published by the Jaina Dharma-Prasaraka Sabha of Bhavnagar, may also be consulted. And besides, all the MSS. of the Mahavira Carita that I have got with me have चिक्षेपे not चिक्षेश, *vide* also recently published Mahavira-Carita, Sarga 2, Sloka 63.

Again in page 5, line 2, I read स्नपयित्वाऽर्चयित्वाऽऽरात्रिकं कृत्वेति तुष्टुवे as I find it in all my MSS. except क ख and ग. The reading of these three MSS. I have given in the foot-note. Grammatically स्नपयित्व स्नापयित्वा are both correct according to the rule ज्वलह्वल ॥ ४ । २ । ३२ ॥ (S. H.) I have consulted the MSS. of Mahavira-Carita: there too I find the reading I have given in my text. "स्नपयित्वाऽर्चयित्वाथ कृत्वारात्रिकमस्तवीत्" I do not find in any of my MSS. of the Yoga-Sastra.

Now पाणिफणच्छत्रो which the critic has in his MS. A for my reading पाणिफणिच्छत्रो (page 46, line 5), does not appear to be correct, and I do not find it in any of my MSS. The reading suggested by the critic on the authority of his MS. A is wrong according to He

macandra (*vide* his Linganusasana, Dr. R. Otto Franke's edition, page 13, line 16); स्युर्वारिपर्णफण-फण is never neuter, so according to the rule विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिकां च ताम्। निबध्नन्ति Vagbhatalankara, 4th Pariccheda, 58th Sloka, it cannot have Upamana and Upameyabhava with the neuter word छत्र.

Now of my reading भवनं, page 68, line 19, which the critic also has in his MSS. B, C, and D. Again on the authority of his MS. A he suggests the improvement भुवनं. As the word भुवनं never means a "temple" or a "house," it appears that the critic failed to find out the meaning of the lines where it comes, as is accepted by the Jaina authorities. The word in the present instance has been unanimously taken by all of them to mean the "temple of Sindhu-devi." The same story of Bharata occurs again in Hemacandra's Adisvara-carita (*vide* 4th Sarga, 216th Sloka of the edition published by the Jaina-Dharma-Prasaraka Sabha of Bhavnagar, oblong leaf 101). The meaning is clearly given by the line which reads निकषा सिन्धुसदनं स्कन्धावारं न्यवीविशत्—in the very same connection as will be evident on reading the neighbouring lines. The consultation of the Gujrati translation of the Yoga-Sastra page 46, lines 5-8, will make the matter at once clear.

With regard to critic's reading त्रिदशैस्त्रिशाहारः which he thinks to be incomparably superior to the one given by me, *viz.*, त्रिदशाहारयोगेन, page 43, line 22, I may say that I cannot find much difference between the two.

Again from the reading न तातो न च विक्रमः which he suggests as an improvement for my reading न तातोसमविक्रमः, page 82, line 13, I cannot make out anything. To me it does not give any sense whatever in spite of my utmost exertion to find one.

Then for my reading तदा ज्ञात्वा, page 7, line 7, he puts तदाज्ञात्वा (tad ajnatva). The ajnatva as he gets it from तदाज्ञात्वा by euphonic disjunction, cannot be supported in any way according to the rules of Sanskrit Grammar समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥ ७ । १ । ३७ ॥ (Paniniya। अनञः क्त्वो यप् ॥ ३ । २ । १५४ ॥ (S. H.); the proper form according to these rules should be आज्ञाय not आज्ञात्वा since the root ज्ञांश्. is preceded by आङ्, therefore, it cannot take क्त्वा but it must take यप्. Such grammatical mistakes are unpardonable even for a tyro.

Again for my reading दर्शनमात्रे, page 36, line 9, he suggests दर्शनं मात्रं: this is clearly a mistake, since for ekarthibhava the omission of Vibhakti is quite essential.

Now of कपाटान्तगुहाम् which he gives in place of my reading कपाटां तां गुहाम् page 76, line 9. The reading I have given is *without exception* the *one* to be *found* in all my MSS. The reading suggested by the critic is not so happy as ours. This will be evident to any person knowing Sanskrit if he cares to bestow a little thought on it.

Now of my readings दर्शितं, page 30, line 13; धीरं page 7, line 9, I have to say that they are authoritative and are to be found in the majority of my MSS. Not only that, on a little consideration it will be found that they are more appropriate to the contexts than those suggested by the critic.

The form दुर्दमः which I find only in two of my MSS., and consequently which I have given as a variant in the foot-note, is not so happy as दुर्मदः,

page 104, line 6, of my text; this will be evident to anybody knowing Sanskrit considering the matter deeply.

Again such of my readings as आखुश्चैव निखम्बिव (page 10, line 6), गृह्णीयाद्दू (page 14, line 18), एवंभूतो (page 24, line 13), अधिसुत्रित (page 26, line 9), तत्सम्पन्न-लब्धिर् (page 40, line 1), ज्याभिघोषं (page 67, line 16), which I have got in all my MSS.,—not only that, but which are found in other works such as the Avacuri on the Yoga-Sastra, the Mahavira-Carita (one of the MSS. of which that I have got with me is very old and very correct),—are the only authoritative ones. The readings suggested by the critic. I am sorry to say, are not to be found in any of my MSS.

Now we shall take up our readings अनुभाग and अनुभागो (page 114, lines 16 and 21) and consider it in some detail. It is again the ignorance of Jaina technology that leads the critic to suggest अनुभाव to be inserted in place of अनुभाग which he says to be faulty on the authority of his MSS. A. B. C and D. and strengthens his views by quoting a random authority from the Tattvarthasutra. Both the forms are correct though ours is one of frequent use and his is of less common use. We shall quote here a number of instances equally authoritative with the one given by the critic proving the validity of our reading. *Vide* the First Karmagrantha by Devendra Suri. In his own commentary of the 2nd gatha he gives the following:—

कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती च यो रसः सोऽनुभागबन्धः रसबन्ध इत्यर्थः उक्तं च–ताण रसो अणुभागो, अन्यत्राप्युक्तं अणुभागो रसः प्रोक्तः—It occurs also in the Fifth Karma-

grantha (which we have got with the Avacuri) and in many other places. The Bhavnagar edition of Navatatva (page 97), the commentary on Sthananga-sutra by Abhayadeva Suri, the Dipika on this latter book by Megharaja (leaf 6 of our MS. of the work) and the Vrhad-dravya Samgraha of Nemi-candra with the commentary of Brahmadeva (this work, belonging to the Digambara sect of the Jains, is of great value and authority, *vide* page 80 of the Parama-Sruta-Prabhavaka-Mandala's edition) may also be advantageously consulted. Everywhere we find अनुभाग

In what follows it will be proved by proper argument that I am not wrong in all those places where the critic says that I am. Let me examine critically the validity of my reading किं निमित्तं (page 32, line 3); here it is better to give the two words separately, since here is no compound as will be evident on a little consideration. It occurs in the same way as we have put it in the Trisasti-Salaka-Purusa-Carita by Hemcandracarya (*vide* 356th Sloka of the 7th Sarga in Parva 4th of the book published by the Jaina-Dharma-Prasaraka Sabha of Bhavnagar).

Again our reading संक्षया in the passage प्राप्तायुःकर्मसंक्षया is indisputably correct according to my views It is an adjective to मरुदेवी, and when the Samasa is expounded we shall have प्राप्त आयुःकर्मणः संक्षयो यया सा, otherwise if we put संक्षयात् then the use of the word प्राप्त will be useless and redundant.

Now पापं फलं is the critic's correction for our reading पापफलं page 93, line 5: what is the objection if we expound the expression as पापं च तत् फलं चेति पापफलं?

Again for my दुहितुः वा, page 100, line 22, he puts the other optionally common form दुहितुर्वा. blaming the former as a striking mistake. Does he not forget here the well-known Karika which closes with the words वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते, thus defending the form we have given?

Now for our readings सुसुमा and सुसुमाम् he suggests the forms सुंसुमा and सुंसुमाम् as correct. These are the proper names that occur also in the Upadesamala-Vrtti and Bharatesvara Bahubali Vrtti in the *Adhikara* of *Cilat-putta (Cilati-putra)* in several places.

Now we have to say something in connection with the critic's remark that भास्वदंशुभिः (page 130, line 14) the word of the text should be added before आदित्यकिरणैः in the commentary, the latter being a synonym for the former. In our opinion, it is not necessary in a commentary which aims at being didactic and not literary. In the present commentary the author first attempts to make the language of the text clear by a sort of paraphrase known to Sanskritists as *Anvya-mukhi Vyakhya* in which he sometimes repeats, as usual, the words of the text before their synonyms and sometimes does not (and this latter is the case in places where the words of the text naturally and unconsciously repeat themselves before their synonyms without being repeated by the commentator.) This is more so because the writer's attention is not solely directed to the linguistic difficulty of the text of which he is writing the commentary and which is itself a very easy Sanskrit very often. His chief aim is to explain the text from an esoteric point of view and to

enable his reader to enter deep into the mystery of the subject which is an abstruse one, and for this he takes every possible care. The most prominent features of his commentary are, as is well known to every student who has ever studied it, logical discussions, quotations from the canonized texts of Jaina Scriptures and a long series of illustrative anecdotes. The following are other instances (of course, according to my MSS.) which will clearly indicate that the author is not very particular about the linguistic difficulty of thetext and tha the doesnot strictly follow the rules of Anvya-mukhi Vyakhya, etc., as is necessary in a commentary intended for the instruction of boys. In page 198, line 14, the words परस्य अप्रियं are the *synonyms of* अन्यस्य अनिष्टं *in the Sloka 20 of the text* in the same page, Again in page 388, line 4, निष्कलङ्कचेतोवृत्तेः is the Synonymous rendering of अकलङ्कमनोवृत्तेः in the Sloka 101 preceding. The method which has been followed by Hemacandra in this connection may clearly be ascertained by the perusal of the Sloka 11 and the comment thereon in page 92. In concluding the present remark, I must say that to point such a mistake in such a work as the philosophic commentary on the Yoga-Sastra is nothing but to lower its dignity.

Now I should like to say something on such of my readings as अनुमहावीरं and मनसि कृत्वा. For the first (page 7, line 8) the critic suggests the correction अनु महावीरम् and for the second (page 133, line 3) the correction मनसिकृत्वा. That is to say, he separates the two words which I have combined, and in a case where the uniformity holds, he combines the two words which I have put separately. I do not under-

stand what he means by doing this. Are not the two cases similar? Is it not proper to follow the same rule or rules in one connection as in the other, the two cases being of like nature? मनसि must come separately, because the Samasa is not possible in मनसिकृत्वा; according to the rule मध्येपदेनिवचने-॥ ३ । १ ११ ॥ (S. H.) मनसि will have the Gati Samjna optionally, but if there be Gati Samjna, there will always be Samasa according to the rule गतिकन्यस्तत्पुरुष: ॥ ३ । १ । ४२ ॥ (S. H.) and when we have the Samasa अनञः क्त्वोयप् ॥ २ । ३ । १५४ ॥ (S. H.) we must have the form मनसिकृत्य But since there is no Gati Samjna in the present case, therefore we must have them separately.

Then again of my reading उवसमविवेयसंवरचिलाइपुत्तं, page 106, line 7. The way in which I have read it can never violate the rules of prosody. The reading संवरं which he suggests as correct is grammatically wrong, and can give no sense at all. These Gathas occur originally in the Samayika-addhyayana of Avasyaka-niryukti of Bhadrabahu Svami (leaf 22 of our MS). In the commentary of these Gathas Haribhadra Suri, a writer prior to Hemacandra, has adopted the reading that we have given in our text. Nay; not only Haribhadra Suri but Malayagiri Suri, Tilaka-carya, the Avacuri of Avasyaka-niryukti (in the Cilatiputra Adhikara), etc., etc., all give it verbatim as we have done it. While criticising our reading उवसम, the critic does not consider even for a moment what may be the sources of these Gathas, nor does he attempt to think out the possible shades of meaning that may be given to them. We had consulted the Avasyaka-niryukti of Bhadrabahu Svami

with all the annotations thereon before we could give the reading that has been so severely condemned by the critic. We find उपशमादिगुणानन्यत्वाच्चिलातिपुत्र एवोपशमविवेकसंवर इति । स चासौ चिलातिपुत्रश्चेति समानाधिकरण इति गाथार्थः (*vide* Avasyaka Vritti Cilatiputra Adhikara; leaf 166 of our MS.)

Now I should like to say something upon the word chaya. It is so called, because very often the Prakrita passages that occur in Sanskrit literature contain words generally of Sanskrit origin, and the meaning of those passages can be conveyed, in the time when Prakrita forms a forgotten vernacular and Sanskrit is still studied and remembered as a classic (I speak this in connection with the Prakrita of the Sanskrit dramatic literature: we the Jainas have our scriptures written in Prakrita, so we study it as a language independent of Sanskrit), by changing the Prakrita words into their Sanskrit original, the one being the shadow of the other. But it must be remembered that the word Prakrita is commonly used to denote three kinds of words: the first kind contains all those words which are properly Prakrita, that is, derived from Sanskrit; the second kind contains all those words which are not properly Prakrita, that is, not derived from Sanskrit: they exist independently of it and have the meaning and use of their own. Such words are properly called Dési. Hemachandra's Desi Namamala gives a tolerably complete list of all such words with their meanings. The third kind is composed of all those words which can pass both for Sanskrit and Prakrita; as for instance in the Sahityadarpana (Bombay edition, page 62) we have

उअ णिव्वल—here the great commentator Rāmācarāna Tarkavagisa (a great logician too) renders the word उअ by पश्य and the Bombay editor quotes उअ इति पश्यें-त्यर्थे देशीति नरसिंहठक्कुराः अव्ययमिति नागोजिभट्टाः The last two names are sufficiently authoritative to prove the validity of our assertion, and moreover the whole of the thirteenth Sarga of the Bhatti Kavya may be advantageously consulted in this connection; considering the nature of Prakrita as described above, it becomes evident that it is not always possible to give the chaya of Prakrita passages in a manner indicated by the critic. It will be seen from the following examples that in dealing with the Prakrita passages of the Yoga-Sastra I have not departed from the beaten track. Take for instance the passage अम्हेअणिरिक्काओ— in Hemacandra's Kavyanusasana (published in the Kavya-mala series, page 54, line 3) the word अणिरिक्काओ in it has be rendered by the word परतन्त्राः by Hemacandra himself in his own commentary (following him the Bombay editors also give परतन्त्राः in the chaya: *vide* line 24 in the same page), since the word is Desi and its signification cannot be better indicated but by the word परतन्त्राः. Again in the Sloka गुप्पन्ती विवलाआ which occurs in page 5 of the Setubandham (also known by the name "Ravana Vaho" published in the Kavya-mala series, the commentator Sri Ramadasa Bhupati gives for "गुप्पन्ती" "व्याकुला" and renders the whole line as व्याकुला विपलयिता गलित इव स्तनांशुके महासुरलक्ष्मीः In this case according to the critic's views the commentator should have put गुप्यन्ती for गुप्पन्ती, not व्याकुला. But the great commentator has not accepted the critic's views,

since the Sanskrit word गुप्यन्ती does not clearly indicate the sense of व्याकुला which is the true sense of the Prakrita word गुप्पन्ती in the passage.

Many such examples can be quoted, unnecessarily increasing the bulk of this essay in support of our view. I shall close the present remark by stating simply that किड्डीओ in the verse referred to by the critic means पिपीलिकाः, and the Sanskrit word कीट्य: as suggested by the critic does not give the particular sense पिपीलिकाः. The equivalent of कीड्डी as given by Hemacandra in his Desi Nama-mala (Bombay edition, Sastha Varga, 134th Sloka) is कीटिका, and कीटिका means पिपीलिका not कीटी. Of course, following the method of standard writers I have given हीनाङ्गी which also means पिपीलिका. I may add here that the critic's view of rendering a Prakrit word by the cognate Sanskrit word has not been strictly followed by the standard writers of olden time, even when it is possible to do so, *i.e.*, when both the Prakrita word and its cognate Sanskrit word are exactly of the same sense (*vide* Jayavallabha's Vajjalagga and Ratnadeva's Chaya thereon written in the Samvat 1393). The above remarks hold true for my rendering सार्द्धद्विभिः, since अर्धतृतीय is not easily understood to be 2½ (two and-a-half) and is not much used too. Moreover this form is given by Vinaya Vijaya-Upadhyaya in his commentary of the Kalpa-Sutra, and Santi Sagaropadhyaya has also given the same form in his commentary of the same work.

Now, my rendering of मुयङ्गलीयाहिं and this reading itself are quite satisfactory, as far as I can think of

them. Moreover the reading मुइङ्गुलीयाहि which the critic gives, is wrong according to my views, since according to the rules of Prakrit grammar, it cannot give the Sanskrit equivalent मृदङ्गुलियाभिः as given by the critic. My reading मुयङ्गलीयाहि and its rendering पिपीलिकाभिः are both correct. The great Haribhadra Suri has taken these things just in the same way as I have done.

For my reading मित्तेण (page 131, line 11) the critic suggests मेत्तेण according to his MSS. A, B, C, and D; but in my MSS. I have the reading which I have given in the text, and this is an Arsa by the rule ह्रस्वः संयोगे ॥ ८ । १ । ८४ ॥ (S. H.). In the glossary of the Kalpa-Sutra, Prof. H. Jacobi gives mitta as the principal reading (*vide* Jacobi's edition, Leipzig, 1879, page 161, under the head of *mitta*. See also specimen under Naya Dhamma Kaha of P. Stenthal, Leipzig, 1881, page 76).

Again for my reading पुई (page 132, line 15) he says that it should be पूइय. This is wrong, since grammatically the form पुइय is never possible. The word पुई that I have given is also correct for the metre. The printer's mistake makes it पूइ instead of पुई

The following is the critical notice of the materials used by me in the collation of the first fasciculus. No strict rules have been followed in naming the MSS.:-

Critical Notice.

In preparing the text of the present edition of the Yoga Sastra, I have consulted the following works:-

The following are MSS. of the Yoga-Sastra:—

(क) From Muni Hansvijaya of Baroda. Fairly correct.

(ख) From Bhaktivijayaji of Radhanpur. Good and correct.

(ग) From Bhavnagar Bhandar. Though old but not correct.

(घ) My own. Fairly correct.

(ङ) Also my own. It is also fairly correct and similar to (घ).

(च) From Pannyas Viravijayaji of Radhanpur. Very correct, used by the owner for his study and therefore carefully corrected one.

(छ) From Sanand Bhandar. It is similar to (घ)

(ज) It is a MS. containing the Avacuri on the first four Prakasas. It is old and tolerably correct. It was also received from Pannyas Viravijayaji.

(झ) Also containing Avacuri on the first four Prakasas. Written in the month of Phalguna Sukla Chaturdasi, Somavara. Samvat 1537. Fairly correct. Received from Kesara Vijayaji

In addition to the above I have used also:—

(ञ) Antara Sloka; also from Kesara Vijayaji. It is an old and good MS.

(ट) Bhimsi Manik's Gujrati translation of the text and the commentary. This edition, as has already been stated, contains the text also (not the commentary).

(ठ) The Dharma Samgraha is a book containing many passages cited from the Yoga-Sastra.

I have consulted the MS. of this book which belongs to me.

(ड) Another MS. of the Yoga-Sastra. I have received this MS. latterly. It is old, worm-eaten and very correct.

(ढ) In addition to these the German edition of the first four Prakasas was also used.

Recently I have secured from the Deccan College Library, Poona, the manuscript A of my critic. I have examined it thoroughly, but apart from its age, it has nothing to commend it to a responsible editor. The scribe, as it appears to me, had little acquaintance with the language of his script, and as far as the subject-matter is concerned he was completely in the dark.

उपर्युक्त प्रत्युत्तर, जैसे 'एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल' के मासिक में प्रसिद्ध हुआ, वैसे ही उसकी एक एक प्रति पाश्चात्य विद्वानों के पास भी भेजी गई। इस विषय में उन विद्वानों के जो जो अभिप्राय प्राप्त हुए, उनके प्रकट करने के पहिले एक बात कह देनी समुचित होगी।

जिस समय आचार्य महाराजश्री ने योगशास्त्र के संशोधन का कार्य अपने हाथ में लिया था, उस समय हमारे कतिपय उन नवशिक्षित जैनों को, जो कि–अंग्रेजी भाषा के पढ़ जाने से अपने को महान् विद्वान् समझते हैं, बहुत बुरा लगा था। उनका यह अभिप्राय था कि जब इस कार्य को एक इटालीयन विद्वान् ने अपने हाथ में लिया है, तब आचार्य महाराजश्री को इस कार्य के उठाने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि–पाश्चात्य विद्वान् जिस योग्यता के साथ ग्रन्थों का संशोधन कर सकते हैं, उस योग्यता से भारतीय विद्वान् कभी नहीं कर सकते। संक्षेप से कहा जाय तो पाश्चात्य विद्वानों के वाक्यों को वे 'वेदवाक्य' समझते हैं। और यही कारण है कि–किसी समय किसी पाश्चात्य विद्वान् के सामने कुछ लिखने

की आवश्यकता पड़ जाय, तो वे ईश्वर के साथ युद्ध करने के बराबर समझते हैं।

आचार्य महाराज श्री, इन कमजोरी से भरे हुए अभिप्रायों से बिलकुल विरुद्ध हैं। बेशक, आप इस बात को तो अवश्य ही मानते हैं कि– चाहे कहीं के भी रहनेवाले विद्वान् क्यों न हों, उनकी कार्यप्रणाली में जो गुण हों, उनको अवश्य ग्रहण करना चाहिये। परन्तु 'अमुक कार्य को तो हम कर ही नहीं सकते हैं,' 'इसके लिये तो पाश्चात्य विद्वान् ही योग्य हैं।' 'हम योग्यता रख ही नहीं सकते,' ऐसी अन्धश्रद्धा को आप बड़ी ही घृणा की दृष्टि से देखते हैं। और इसी से आप, किसी की बातों पर ध्यान न देकर के योगशास्त्र के संशोधन का कार्य करते ही रहे। एवं आपने, डा० बेलोनीफिलिप्पी की की हुई अघटित आलोचना का प्रत्युत्तर भी बड़ी योग्यता के साथ दिया। और उसकी एक एक प्रति समस्त पाश्चात्य-विद्वानों के पास अभिप्रायार्थ भेजी भी। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं। इतना ही क्यों, आपके प्रधान-शिष्य उपाध्याय **श्रीइन्द्रविजयजी महाराज** ने डा० फिलिप्पी के पास भी इसकी एक प्रति भेजी। और साथ यह भी लिखा गया कि–"आपने तो आपकी की हुई आलोचना की कापी नहीं भेजी थी। तो भी हम प्रत्यालोचना की कापी भेजते हैं। इस प्रत्यालोचना का कोई उत्तर आप प्रसिद्ध करें, तो उसकी एक प्रति अवश्य भेज दीजियेगा।"

विद्वत्ता के साथ सभ्यता की कसौटी का भी यह एक अच्छा प्रसंग था। आप की इस उदारता पर कोई भी विद्वान् मुग्ध हो जाय, इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आप ने जिन जिन पाश्चात्यविद्वानों के पास इसकी कापियाँ भेजी थीं, उन सभों ने प्रायः अपने अपने अभिप्राय लिख भेजे थे। उन अभिप्रायों में से कतिपय अभिप्रायों को यहां दे देना इस लिये उचित समझा जाता है कि–जिस से पाठक, आचार्यश्री की विद्वत्ता और पाश्चात्यविद्वानों की निष्पक्षपातता एवं गुणानुरागता को जानें। इसके उपरान्त पाठकों को यह भी जानने का सुअवसर मिलेगा कि–हमारे कतिपय जैन नव-

शिक्षित अपने हृदय में जो श्रद्धा कर बैठे थे, वह कहाँ तक सत्य थी। इस विषय में जिन २ पाश्चात्यविद्वानों के अभिप्राय आए थे, उन में से सुप्रसिद्ध इन विद्वानों के भी थे :—

[१] डा. ए. गेरीनो ता. १७-७-१० के पत्र में पेरिस से लिखते हैं:—

I shall read with interest your rejoinder to Dr. Belloni Fillipi's criticisms.

* * * *

Belloni Fillipi's criticisms, I believe, were written out of spite and with a feeling of anger.

अर्थात्—'मै, डाक्टर बेलोनी फिलिपी की टीकाओं के प्रत्युत्तर को, जो कि आप ने दिया है, आनन्द से पढ़ूँगा।

* * * *

बेलोनी फिलिपी की टीकाएं मेरी मान्यता से द्वेष और क्रोध की बुद्धि से लिखने में आईं थीं।'

[२] डा. हर्टल अपने ता. २०—१०—१० के पत्र में लिखते हैं:—

I have read your rejoinder and am glad that this rejoinder is written without any animosity.

* * * *

I must further say, that I decidedly prefer your method of editing to his.

* * * *

Dr. Fillipi is still a tyro in critical work. Everybody who is familiar with Sanskrit Mss. knows, that very often the oldest Mss. are worthless, and that modern Mss. often give a more original text than old ones.

As to the readings which you are discussing in your reply, it seems to me that you are right in all

the cases recorded; and I hope, that your critic will see that he is wrong, if he attentively reads your arguments.

* * * *

I think it will be very disagreeable to Mr. Belloni Fillipi to hear, that his text was too unsatisfactory to be printed. It would have been better to tell him at once, that his text was too faulty, and the Dharmaprasaraka Sabha should in my opinion have done so. I think this Sabha did not wish to offend the Doctor by doing so. But after all, it would have been better to do so, as in this case perhaps he would not have written against you. But you are fully justified after this rejoinder, and I am very glad you are.

अर्थात्–'आप का प्रत्युत्तर किञ्चित् भी द्वेषाभाव से लिखा गया है, यह जान कर खुश हुआ हूँ। × × × × × ×

आगे बढ़ करके मुझे कहना चाहिये कि उसकी संशोधनपद्धति की अपेक्षा से, मैं आपकी संशोधनपद्धति को विशेषरीत्या पसंद करता हूँ। डॉ० फिलीपी टीकाकार के कार्य में अभी अनभिज्ञ हैं। संस्कृत हस्त लिखित प्रतियों से परिचित हर एक मनुष्य समझता है कि—कभी कभी पुरानी में पुरानी प्रतियाँ भी निर्माल्य (निरुपयोगी) होती हैं। और नई प्रतियों में, पुरानी प्रतियों की अपेक्षा अधिक असल—मूल होता है।

आपके प्रत्युत्तर में जिन पाठों की चर्चा आप चलाते हैं, उन पाठों के विषय में मुझे मालूम होता है कि—आप सभी बातों में सच्चे हैं। और मुझे आशा है कि—आप का प्रतिपक्षी अगर ध्यान पूर्वक आप की दलीलों को पढ़ेगा, तो उसको मालूम होगा कि वह असत्यवादी है।

× × × × ×

मैं समझता हूँ कि, डॉ० बेलोनी को, यह सुन कर बहुत बुरा लगेगा कि, उसकी कृति छापने के लिये बिलकुल असंतोष कारक थी। उसको

यकायक कह देना बहुत अच्छा था कि, उनकी कृति बहुत दोषवाली थी। और धर्मप्रसारक सभा ने मेरे मन्तव्यानुसार ऐसा करना चाहिये था। मैं समझता हूं कि सभा ने वैसा करके उसको नाखुश करने की इच्छा नहीं की। किन्तु वैसा करना अच्छा था। जिससे शायद डॉ० वेलॉनी आपके सामने टीका भी नहीं करता। परन्तु आपको, इस प्रत्युत्तर के देने के पश्चात् सम्पूर्ण न्याय मिला है, और इस से मैं खुश हुआ हूं।'

[३] रीचर्डस्मिट, ता: ११—१२—१० के पत्र में मुन्स्टर, आई, डब्ल्यु. से लिखते हैं,—

I have read with much pleasure your rejoinder to Dr. Belloni Fillpi. I am convinced that Jain texts should be edited rather by a Jaina than by a non-Jaina, however erudite he might happen to be; at least any scholar, who is going to publish a Jaina book, must be fully acquainted with Jaina technology. I have examined your pamphlet throughout and-**so far as I see**-I think you are quite right.

अर्थात्—'डॉ० वेलोनी फिलिपी के प्रति दिये हुए आप के प्रत्युत्तर को पढ़ कर बहुत खुश हुआ हूं। मुझे निश्चय हुआ है कि जैनेतर चाहे कैसाही विद्वान् हो, परन्तु जैन पुस्तकोंके मूल भाग, जैनों के द्वारा ही प्रकाशित होने चाहियें। जैन पुस्तक के संशोधन करनेवाला जैन परिभाषा का संपूर्णज्ञाता होना चाहिये। मैंने आपके प्रत्युत्तर को प्रारंभ से अन्ततक देख लिया है। और मैं जहाँ तक समझता हूं वहाँ तक आप बिलकुल सच्चे हैं, ऐसा मुझे मालूम होता है।'

[४] मी. किरस्टे ता. १९—१२—१० के पत्र में ग्रेझ (Graz.) से लिखते हैं:—

Unfortunately I have never made Hemachandra's Yogasastra the object of a special study, so that I cannot judge the intrinsic value of the various readings. But what I can say in all conscience is that you have

done your work in a very creditable manner............
.........being yourself a Jaina Sadhu and teacher you have, moreover, made profit of the traditional explanation of difficult passages...
.........That circumstance gives to your edition a decided advantage over every one published by an European scholar..

अर्थात्–'कमभाग्य से मैंने हेमचन्द्र के योगशास्त्र का खास अभ्यास नहीं किया है, इस लिये भिन्न भिन्न पाठों का सच्चा मूल्य नहीं कर सकता। परन्तु अन्तःकरण पूर्वक इतना कह सकता हूं कि आपने आपका कार्य बहुत प्रतिष्ठापक रीति से किया है × × × × तथा आप स्वयं जैनसाधु और शिक्षक होने से, आप ने कठिन भागोंका, गुरु परंपरा की विवेचना से स्पष्टिकरण किया है। × × × × × × × यह बात, कोई भी यूरोपीयन विद्वान् के द्वारा छपी हुई प्रति की अपेक्षा आप के एडीशन को विशेष निश्चय पूर्वक लाभ देती है।'

[९] डॉ. जैकोबी ता. २८—१०—१० के पत्र में लिखते हैं:–

I think in many points you are right.

* * * *

Your remarks prove even to those that may not have known it that you have gone to work with all care that may be expected from an editor.

अर्थात्—मैं मानता हूं कि-आप बहुतसी बातों में सच्चे हैं।

* * * *

संशोधक की तर्फ से जो आशा रक्खी जाय, वैसे ही पूरे ध्यानपूर्वक आप ने अपना कार्य किया है। यह बात, अनजान मनुष्य को भी आप की टीकाएं दिखला देती हैं।'

(१) डॉ० चार्ल्स एच. टॉनी ता. २८—१२—१० के पत्र में लिखते हैं:—

have not seen Dr. Fillipi's article, but he seems to me to be hypocritical.

* * * *

As far as I can see your edition will be very helpful to people who wish to know rather than to criticise.

अर्थात्—'मैंने डॉक्टर फिलिपी का लेख पढ़ा नहीं है, परन्तु वह मुझे तो दंभी हो, वैसा मालूम होता है।

* * * *

मैं जहाँ तक समझ सकता हूं वहाँ तक, आप की आवृत्ति, जो लोग टीका करने की अपेक्षा ज्ञान संपादन करना चाहते हैं, उन लोगों के लिये वहुत उपयोगी हो सकेगी।'

(७) डॉ० एल. फीनोट ता. २९-२-११ के पत्र में लिखते हैं:—

I have read your rejoinder to the review of the Yogasastra published in the German Oriental Journal. So far as I can judge, your edition emerges unwounded from the shower of shafts poured on it by an unmerciful critic. You have conclusively proved that the readings of the text were chosen after a careful consideration and according to a right method. I quite agree with you that the so called classification of Mss. ought not to be overestimated, and that the Guruparampara deserves a prominent part in the appreciation of the conflicting readings. I congratulate you on the useful work you have taken in hand and hope most heartfully that you will be able to bring it to a successful conclusion.

अर्थात्—'जर्मन ओरीयंटल जर्नल में छपे हुए योगशास्त्र के अवलोकन का, आप का दिया हुआ प्रत्युत्तर मैंने पढ़ा है। मेरी समझ से आप की आवृत्ति, एक निर्दय टीकाकार के छोड़े हुए वाणों से विना

छेदित रह करके प्रकट होती है। आपने निर्णयात्मक रीति से सिद्ध किया है कि-मूल के पाठ, ध्यान पूर्वक विचार करने के अनन्तर सच्ची रीति से पसंद किए हैं। मैं आप के साथ विलकुल सहमत होता हूं कि हस्त-लिखित प्रतियों के वैसे कहलाने वाले यथानुक्रम की सीमा से विशेष मूल्य नहीं करना चाहिये। और गुरु परंपरा को, परस्पर विरुद्धता रखने वाले पाठों का सच्चा मूल्य करने में प्रधानता देनी चाहिये। आपके हाथ में लिये हुए उपयोगी कार्य के लिये मैं आप को धन्यवाद देता हूँ। और अंतःकरण से आशा रखता हूं कि-आप, उसका सफलता पूर्वक अंत लाने के लिये शक्तिमान होंगे।'

(८) डॉ० वी० नेगेलीन ता. २—१—११ के पत्र में लिखते हैं:-

I have thoroughly perused your rejoinder to Mr. Belloni and I have found, that you are right in all your statements and that you were the right man to undertake this publication..............................

अर्थात्—"मी० बेलोनी के प्रति दिये हुए प्रत्युत्तर को मैंने ध्यान पूर्वक पढ़ा है। और मुझे मालूम हुआ है कि आप अपनी सब बातों में सच्चे हैं। और इस पुस्तक के प्रकट करने का कार्यभार उठाने में आप विलकुल योग्य ही हैं।"

(९) डॉ० एफ. डब्ल्यु. थॉमस ता. १३—१—११ के पत्र में लिखते हैं:—

Perhaps you will allow me to say that both in that introduction and in your rejoinder, I admire the fairness of spirit in which the controversy is conducted and definiteness of the arguments. I think all scholars will admit that the defence has been conducted with dignity and that it shows a mastery of the subject (as was, of course, to be expected) and scholarly method. Probably your opponents, who are very well known scholars will themselves admit the justice

of your contentions in many cases. I have not myself been able to go into the questions in the same way as others might do who are specially familiar with the Yogasastra and Jaina literature generally ; but, so far as I am able to judge from a comparison of your text with the criticism and the reply, it will be acknowledged that your readings are in nearly all cases the right ones, at any rate that they are quite justified, and readers will draw the conclusion that in these studies also the scholars of Europe have still much to learn from the authorities in India. This is of course the fact in the case of many studies and I gather that it must be especially so in regard to the Jaina religion

अर्थात्—'समालोच्य विषय की चर्चा, जिस प्रामाणिक आशय से प्रस्तावना और आपके प्रत्युत्तर में की गई है, उस प्रामाणिकता और सत्य युक्तियों की निश्चयता की मैं प्रशंसा करता हूँ। समस्त विद्वान् स्वीकार करेंगे कि-प्रतिवाद उच्चभाव से किया गया है। और वह, विषय पर संपूर्ण अधिकार (as was, of course, to be expected) एवं विद्वत्ता वाली पद्धति को प्रकट करता है। बहुत बातों में आपकी दलीलें सच्ची हैं। इस बात को आपके प्रतिपक्षी, जो कि प्रसिद्ध विद्वान् हैं, वे भी स्वीकार करेंगे। जो लोग योगशास्त्र और सामान्यरीत्या जैनसाहित्य से प्रधानतया अभिज्ञ हैं, उन्हों की तरह मैं इस विषय में प्रवेश नहीं कर सका हूँ, तथापि प्रस्तुत टीका और आपके प्रत्युत्तर के साथ आपकी आवृत्ति का मुकाबला करने से, मैं इतना तो कह सकूंगा कि बहुतसी बातों में आप के पाठ सच्चे हैं। और सर्वथा युक्त हैं। एवं वाचक भी स्वीकार करेंगे कि—**इस अभ्यास में और खास करके जैनधर्म के विषय में हिंदुस्थान के विद्वानों से पाश्चात्यविद्वानों को अभी बहुत कुछ सीखने का है।**'

उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों के अभिप्रायों से पाठकों को ज्ञात हो गया होगा कि-आचार्यश्री ने डॉ० बेलोनी फिल्पी की की हुई आलोचना का

जो प्रत्युत्तर दिया था, वह विलकुल उचित और मर्यादा पूर्वक ही था। समस्त विद्वानों ने 'डॉ० बेलोनी फिलिपी अपने बन्धु हैं' ऐसे किसी भी प्रकार की पक्षपात की दृष्टि को नहीं रख कर आचार्यश्री के कार्य की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

प्रियपाठक! आप उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों की ही निष्पक्षपातता को देख कर यकायक कोई अभिप्राय न बांध लें। आप डॉ० बेलॉनी फिलिप्पी, कि जिनकी आलोचना पर प्रत्यालोचना करने का आचार्यश्री को श्रम उठाना पड़ा, उन्हीं के पत्र को पढ़िये। डॉ. फिलिप्पी अपने ता. २१—१२—१९१० के पत्र में उपाध्याय श्रीइन्द्रविजयजी महाराज पर लिखते हैं:—

I thank you very much for the kind present of your interesting edition, which I have just now received. As for the rejoinder of your venerable teacher the pamphlet was already known to me through the medium of prof, Jacobi. But I have been advised by him not to rejoin, because the Muni wrote with no malignant intention and only in order to defend his work. I am obliged to acknowledge that at the time when I viewed the fasciculus of the Y. S. I was somewhat angry at the failure of my undertaking, so that I was possibly less courteous than the case required. But I had also no वक्रचेतस्

अर्थात्—"आपकी रसपूर्ण आवृत्ति, जोकि मुझको अभी ही मिली है, उसकी प्रेमयुक्त भेंट के लिये मैं आपका बहुत उपकार मानता हूँ। आपके मान्यगुरु के प्रत्युत्तर के विषय में मुझको पहिले सेहीं प्रोफेसर जेकोबीके द्वारा विदित हुआ था। परन्तु उन्हों नें मुझे अनुरोध किया था कि अब प्रत्युत्तर नहीं देना। क्योंकि, मुनिने (आचार्यमहाराजश्री ने) अपनी कृति के बचाव के लिये ही (न कि द्वेषयुक्त भाव से) प्रस्तुत लेख लिखा है। मुझको इस बातके स्वीकार करने पर बाध्य होना पड़ता है कि, जब मैंने

योगशास्त्र के प्रथम प्रकाश की समालोचना की, तब मैं मेरे प्रारंभ किये हुए कार्य के निष्फल हो जाने से किञ्चित् क्रोध के आवेश में था। और इसी से मैं समयोचित जैसी चाहिये वैसी सभ्यता नहीं बता सका। परन्तु मैं वक्रचेतस् नहीं हूँ"।

भूल होना मनुष्यमात्र के लिये स्वाभाविक ही है। परन्तु भूल को प्रकट कर देना और सत्यबात स्पष्ट कह देना, मनुष्य की सज्जनता और विद्वत्ता का प्रधान चिह्न है। डॉ० फिलिपी साहब ने निखालस हृदय से, समालोचना करने के विषय में अपना जो हार्दिक अभिप्राय प्रकट किया है; इसके लिये आप सचमुच धन्यवाद के पात्र हैं। हमारे भारतीय उन विद्वानों को, जिनको अपनी सच्ची भूलों को नहीं स्वीकार करने की एक प्रकार की चाट लगी रहती है, डॉ० वेलानी फिलिपी साहब की इस सरलता पर ध्यान देना चाहिये। साथ ही साथ हमारे उन पंडितंमन्यों से, जो पाश्चात्यविद्वानों के वाक्यों को 'वेदवाक्य' समझ कर वास्तविक प्रत्युत्तर देने में भी हिचकते हैं, यह कहना अप्रासंगिक नहीं गिना जा सकता कि- विद्या की कसौटी में आ करके सत्याग्रही बनने में कभी पीछे नहीं हटना चाहिये। यहाँ इस बात के स्पष्ट करने की भी आवश्यकता नहीं है कि- अगर हमारे चरित्रनायक जी, डॉक्टर साहब की आलोचना का प्रतिवाद नहीं करते, तो कमसे कम पाश्चात्य विद्वद्समाज में तो यह उद्घोषणा हमेशा के लिये अटल हो जाती कि- भारतीय विद्वानों को ग्रंथ संपादन करने का कार्य नहीं आता। परन्तु आप के इस प्रयत्न के करने से ही उपर्युक्त अपवाद सर्वथा के लिये टल गया।

पाश्चात्यदेशों में प्रसिद्धि

"काम के पीछे नाम" यह एक सामान्य लोकोक्ति है। संसार में जन्म धारण करके जो मनुष्य कार्य करता है, उसी का नाम लिया जाता है। परमात्मा महावीर, महात्मा बुद्ध, कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, वीरवर शिवाजी, महाराणा प्रतापसिंह और ऐसे २ जिन जिन लोगों के नामस्मरणमात्र से आज भी भारतवर्षीय लोग गर्वित और पुलकित हो जाते हैं, उन्होंने किसी न किसी अंशों में संसार में पुरुषार्थ के कार्य कर दिखलाये हैं। और इसी से उनके नाम भारतवर्ष के इतिहास में चिरस्मरणीय अंकित बन रहे हैं। वार्त्तमानिक समय में भी जो २ महानुभाव किसी २ अंशों में पुरुषार्थ के कार्य कर रहे हैं, उन्हों के नाम भी वैसे ही अंकित बने रहेंगे। हमारे चरित्रनायकजी भी संसार के एक वैसे ही महापुरुष हैं। आप ने अद्यावधि जिन जिन महान् कार्यों को किया है, उनमें आप का, पाश्चात्य विद्वानों को जैन-तत्त्व के रहस्यों के समझाने का कार्य भी अग्रगण्य ही है। आज पाश्चात्य देशों के संस्कृत स्कॉलर (विद्वान्) आचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी के पवित्र नाम से सुपरिचित हैं, इतना ही नहीं, परन्तु किसी विद्वान् को किसी भी विषय में कुछ पूछने की आवश्यकता होती है, तो निरन्तर आचार्य श्री से पूछते ही रहते हैं। इसका यही कारण है कि आप बड़ी उदारता, शान्ति और विद्वत्ता के साथ हर एक पाश्चात्य विद्वान् के पूछे हुए प्रश्नों क उत्तर देते हैं। इतना ही क्यों ? आप अपने भंडार की हस्तलिखित प्रतियों को भेज करके उन विद्वानों को सहायता करने में भी संकोच नहीं करते। आप की करीब डेडसौ से दोसौ अलभ्य हस्तलिखित प्रतियाँ पाश्चात्यविद्वानों के पास अब तक मौजूद हैं। यह सब आप के इसी अभिप्राय का परिणाम है कि—**किसी न किसी प्रकार से जैनसाहित्य का संसार में प्रचार हो, और लोग जैनतत्त्वों को समझें।**

'किसी भी कार्य का विस्तृत स्वरूप यकायक नहीं होता' इस निय-

मानुसार, पाश्चात्यदेशों में आपकी प्रसिद्धि पहिले ही से इतनी विस्तृत नहीं हुई थी। सब से पहिले तो सिर्फ डॉ० **जेकोबी** और डॉ० हर्टल से ही आप का पत्र-व्यवहार हुआ था। इस पत्र-व्यवहार में उनको ज्यों २ संतोष मिलता गया और जैनसाहित्य के अभ्यास में आचार्यश्री की तरफ से जैसी चाहिये वैसी सहायता मिलती रही, त्यों २ वे अपने २ परिचित विद्वानों को आचार्यश्री का परिचय देते ही रहे। दूसरी ओर **श्रीयशोविजय ग्रन्थमाला** में जो२ अमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित होते गये, और जिन२ विद्वानों के पास वे ग्रन्थ पहुंचते गये, वे उन ग्रन्थों की शुद्धता, स्वच्छता, उपयोगिता और संशोधनप्रणाली को देख करके मुग्ध होने लगे। तदनन्तर वे विद्वान्, आचार्य महाराजश्री के साथ पत्र-व्यवहार को बढ़ाते ही रहे। और जैनसाहित्य के विषय में अपेक्षित सहायता, सूरिजी से लेते रहे। और आप ही के प्रयत्न का यह फल है कि-यूरोप और अमेरीका के भिन्न २ देशों में ऐसे अनेकों विद्वान् उत्पन्न हुए हैं, जो जैनधर्म का-जैनसाहित्य का अभ्यास करते हैं। एवं अनेकानेक जैनग्रन्थों को प्रकाश में लाते हैं। आजपर्यन्त सूरीश्वरजी और पाश्चात्यविद्वानों के आपस में प्रश्नोत्तररूप जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उसका इतना बड़ा भारी संग्रह है कि-जिसके प्रकाशित करने से एक बड़ा ग्रन्थ बन सकता है।

कहना अनुचित नहीं होगा कि-आचार्य महाराजश्री, पाश्चात्यविद्वानों को जो साहित्यविषयक सहायता देते आये हैं। इसके बदले में उन विद्वानों ने अपनी कृतज्ञता जाहिर करने में कभी संकोच नहीं किया। अनेकों पत्रों और लेखों द्वारा एवं अपनी पुस्तकों में भी उन विदेशीय विद्वानों ने आचार्य महाराजश्री का उपकार मानते हुए यह स्पष्टरीत्या दिखला दिया है कि-आचार्य महाराजश्री ने पश्चिम के एक दो विद्वानों के ऊपर नहीं, किन्तु अनेकों विद्वानों के ऊपर महान् उपकार किया है। इस विषय के विशेष प्रमाण न देकर दो एक सुप्रसिद्ध विद्वानों के ही वचनों को यहां दे देंगे।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० **जेकोबी**, जिस समय जोधपुर में, आचार्य महाराजश्री को मिलने के लिये आए, उस समय उन्होंने, **'जैनसाहित्य-सम्मेलन'** के अधिवेशन में व्याख्यान देते हुए कहा था:—

"At the same time I may express the feelings of gratitude which for a long time I entertain for the distinguished Muniraj Dharmavijaya Suri with whom I am connected through a correspondence of many years. It gives me great satisfaction publicly to thank him for the obligation under which his uninterrupted kindness not only to me but also to other students of Jainism has laid us. He was always eager to give every elucidation on difficult points of Jain doctrine which were laid before him and since I have been here I have consulted him on many subjects, he explained to me some knotty points in the Karmagranthas which had baffled me long; he pointed out to me the passages in the Angas which refer to the worship of the idols of Tirthankaras and assisted me in many more points. By this means he has in a great measure contributed to bring about correct ideas about Jainism among the scholars of the West. We owe to him also the loan of manuscripts by which it has become possible to publish Jain texts. If he had not supplied me with manuscripts of the **पउमचरिय** and the **समराइच्चकहा**, I should never have been able to undertake the edition of these important texts.

अर्थात्—"सुप्रसिद्ध मुनिराज श्रीधर्मविजयसूरि, कि जिनके साथ मेरा कई वर्षों से पत्र व्यवहार के द्वारा संबन्ध है, उनके किए हुए उपकारों के विषय में मेरे जो विचार हैं, उनको इस समय प्रदर्शित करना चाहता हूँ। मुझे ही नहीं, किन्तु अन्य भी जैनधर्म के अभ्यासकों को, आपने अपनी अखंडित कृपा के कारण जिन उपकारों के नीचे रख दिये हैं, उन उपकारों को पब्लिक में प्रसिद्ध करते हुए मुझे बहुत आनंद होता है। आपके सन्मुख जैनमत की जो जो गूढ़ बातें रक्खी जातीं थीं, उनका युक्तरीत्या समाधान करने में आप निरंतर दत्तचित्त रहते थे। और मैं जब से यहाँ आया हूँ, तब से मैंने बहुत विषयों पर आपकी सम्मति ली

है। मुझको बहुत काल से कर्मग्रंथों की जो जो कठिन कठिन वातें नहीं समझ में आती थीं, वे भी इन्होंने समझाई हैं। आपने तीर्थंकरों की मूर्त्ति-पूजा के विषयमें अंगों के पाठ भी बताये हैं, एवं और भी मुझ को बहुत बहुत सहायता की है। इससे पाश्चात्यविद्वानों में जैनधर्म के विषय में सत्यविचारों के उत्पन्न कराने के लिये आपने बहुत कुछ प्रयत्न किया है। आप के दिये हुए अनेकों हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता से ही जैनपुस्तकों के प्रसिद्ध करने का कार्य हो सका है। यदि आप 'पउम चरिय' और 'समराइच्चकहा' की हस्तलिखित प्रतियाँ मुझको न देते, तो मैं इन आवश्यकीय ग्रन्थों को छपवा कर प्रकट करने का कार्य कभी भी सिर पर उठाने के लिये शक्तिमान् न होता।"

इसी तरह डॉ० हर्टल, पूज्यपाद उपाध्यायजी श्रीइन्द्रविजयजी महाराज को ता० २०-७-१९१४ के पत्र में लिखते हैं:—

What would be known of the Jains in the West & in large Parts of India without your gurus & his disciples' work? Your guru & his disciples enable us to see what importance for Indian civilisation the Jains had in olden days, those Jains who were all but unknown even to the scholars during the 19th century. The Jains have all reason to honour & to help the man who is not only willing, but also able to raise his community again on a higher level, to give back to it the position which it had in ancient times, when far-sighted scholars as Hemachandra, *who must have been very similar to your guru*, by their learning, their kindness & their manly energy made Jainism the most esteemed and most effective factor of civilization in North-western India, at the court of Hindu as well as of Mohammedan rulers.

अर्थात्—"आपके गुरु और उनके शिष्यों के परिश्रम के सिवाय पश्चिम और भारतवर्ष के विशेषभागों में जैनों के लिये क्या प्रसिद्धि में आ

डॉ० जॉहनज़ हर्टल एम. ए; पीएच. डी.

सकता था ? उन्नीसवीं शताब्दी में जिन जैनों को विद्वान् नहीं जानते थे, उन जैनों की, प्राचीन समय में भारतवर्ष की सभ्यता में कैसी प्रधानता थी, यह जानने के लिये हमें, आप के गुरु और उनके शिष्य समर्थ वनाते हैं। अपनी जाति को (समुदाय को) पुनः अपने उच्च-स्थान में स्थापन करने के लिये, प्राचीन समय में जब दीर्घ दृष्टिवाले हेमचन्द्राचार्य जैसे विद्वान्, जो कि आप के गुरु से बहुत सदृश होने चाहियें, वैसे विद्वानों ने हिन्दु और मुसलमान राज्यकर्त्ताओं के दरबार में अपनी विद्वत्ता, दयालुता एवं शूरवीरता से जैनधर्म को, भारतवर्ष के उत्तरपश्चिम के प्रदेश के सुधार का बहुत माननीय सच्चा कारण बनाया था, उसी स्थिति में उसको स्थापन करने के लिये खुशी हैं, इतना ही नहीं, परन्तु समर्थ भी हैं। वैसे आदमी (आप के गुरु) को सम्मानित करने और सहायता करने के लिये जैनों के पास संपूर्ण कारण हैं।

इसी डॉ० हर्टल ने अपने एक लेख में भी, जो कि 'जैनकॉन्फरन्स हैरल्ड' के जुलाई-अक्टोबर स० १९१९ के अंक में छपा है, लिखा है-

And before all the splendid Shri Yashovijaya Jain Granth Mala one of the finest sanskrit and prakrit series of India, are eagerly publishing most valuable works. His Holiness Shastravisharada Jain Acharya Shri Dharmavijayaji Suri, one of the greatest scholars of India, The founder of Shri Yashovijaya Pathshala in Benares, not only does the greatest service to Indian philology by having published through his learned pupils Hargovinddas and Bechardas, most important works at a very low price, but is publishing himself works like his excellent edition of Hemachandra's Yogashastra together with the acharya's own Commentary and what is most valuable and far-sighted he provides European scholars intersted in the study of the civilisation, and specially of the literature of the Jainas with Mass, as well as with information which it would be quite impossible to procure in Europe. And so does his worthy head pupil, Muni Indrvijayaji. In Vol. XII of the Harvard oriental series, I was very glad to state what I owe to these eminent scholars, and if I am able

to continue my studies in Indian narrative literature and to show, **that almost all the story literature of India proper belongs to the Jainas and that this literature is composed, as far as it is written in prose in truly spoken sanskrit, in a language the character of which is strangely misunderstood, and the study of which is unduly neglected by the scholars.** I always shall gratefully acknowledge the fact that most important materials for my work have been forwarded to me by these two excellent men.

अर्थात्—"और सब से बढ़ कर श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला, जो भारतवर्ष में सर्वोत्तम संस्कृत और प्राकृत की ग्रंथमाला है, उत्साह पूर्वक बहुत मूल्यवान् ग्रन्थों को प्रकाशित कर रही है। पूज्यपाद शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीधर्मविजयजीसूरि, जो भारतवर्ष के बड़े से बड़े विद्वानों में हैं, और जो काशीकी श्रीयशोविजय पाठशाला के स्थापक हैं, न केवल अपने पण्डित शिष्य हरगोविन्ददास और बेचरदास के द्वारा अच्छे ग्रन्थों को सस्ते मूल्य पर प्रकाशित करके भारतीय भाषाविज्ञान की महती सेवा कर रहे हैं, परन्तु स्वयं भी हेमचंद्राचार्य के स्वरचित टीका समेत योगशास्त्र के उत्तमसंस्करण के समान ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। और जैनों की सभ्यता एवं विशेष कर साहित्य में अनुराग रखने वाले यूरोपीयन विद्वानों को हस्तलिखित पुस्तकें और ऐसा वृत्त, जो यूरोप में पाना बिलकुल असंभव है, देते हैं। वह काम बहुत ही उपयोगी और दूरदर्शिता का है। ऐसे ही उनके सुयोग्य प्रधान शिष्य मुनि इन्द्रविजयजी करते हैं। हार्वर्ड औरिएंटल सिरीज़ के बारहवें भाग में मैंने इन प्रसिद्ध विद्वानों का मेरे ऊपर कितना ऋण है, यह प्रसन्नता पूर्वक दिखलाया है। और मेरा भारतवर्ष के कथानक-शास्त्र में गवेषणा करते रहना, एवं यह सिद्ध करना, कि 'भारतवर्ष भर का प्रायः समूचा ही कथानक भाग जैनों की कृति है और जहां तक वह गद्य में रचित है, वहां तक ऐसी संस्कृत भाषा में लिखा गया है, जो वास्तव में बोलचाल की संस्कृत भाषा थी, परन्तु उसकी वास्तव दशा के बारे में बहुत कुछ बेसमझी फैली हुई है और उसके अभ्यास की ओर विद्वान् लोग अनुचित रीति से उपेक्षा

करते हैं', इन्हीं की कृपा का फल है। मैं सदा धन्यवाद पूर्वक यह स्वीकार करूंगा कि—मेरे कार्य के लिये परम आवश्यक सामग्री इन्हीं दो सज्जनों ने भेजी है।"

इसी तरह इटालीयन विद्वान् डॉ. एल. पी. टेसेटोरी महोदय ने खीचाणदी (मारवाड) में दिये हुए एक व्याख्यान में कहा था:—

"कहने की कोई जरूरत नहीं है कि-महाराजश्री ने (आचार्य-महाराजश्री ने) जैनधर्म के सिद्धान्तों की तरफ एतद्देशीय और पाश्चात्यविद्वानों के ध्यान आकार्षित करने का अवर्णनीय एवं स्तुतिपात्र परिश्रम किया है। और हर्ष का विषय है कि-इसमें उन्हों ने बहुत सफलता प्राप्त की है। मेरा जैनधर्म के ऊपर जो इतना अनुराग है, वह महाराजजी की ही कृपा का प्रताप है। मुझे यह बार बार कहना है कि-भाषाशास्त्र के विषय में भी उन्हों ने मुझे अमूल्य मदद दी है। मुझे उनकी मदद का सर्वसाधारण में स्वीकार करने की बहुत खुशी हुई है। मैं महाराजश्री का सदा के लिये ऋणी बना रहूंगा। क्योंकि अभाग्यवश मैं उनका ऋण चुकाने को असमर्थ ही नहीं, बहुत गरीब हूँ।"

बस, आचार्यश्री की उदारता और विद्वत्ता के परिचय कराने के लिये इतने ही अभिप्राय पर्याप्त हैं। फिर भी इतना अवश्य कहेंगे कि उन विद्वानों ने इतने ही से संतोष नहीं मान कर, एवं आप की विद्वत्ता पर मुग्ध होकर आपके जीवनचरित्र को अपनी अपनी भाषाओं में लिख करके प्रकट करने का भी सौभाग्य प्राप्त किया है। जैसे डॉ० बेलोनी फिलिप्पी ने इटालीयन भाषा में, डॉ० हर्टल ने जर्मनभाषा में और डॉ० गेरीनोट ने फ्रेंच भाषा में। इससे यह भी स्पष्ट मालूम होता है कि उन विद्वानों ने भी अपनी कृतज्ञता का कम परिचय नहीं दिया।

ग्रन्थों की रचना

महात्मापुरुषों के उपकारों की कोई सीमा नहीं होती है। वे किसी न किसी प्रकार से संसार में अधिकाधिक उपकारों के करने ही में कटिबद्ध रहते हैं। इतना होने पर भी महात्मालोग सर्वत्र, सर्वदा स्वयं उपदेश देने को असमर्थ ही होते हैं। क्योंकि समय अल्प और क्षेत्र बहुत बड़ा। भला सब स्थानों में महात्मालोग कैसे पहुँच सकते हैं?। मनुष्यजाति की जितनी क्रियाएं होती हैं, वे क्रमशः ही होती हैं। और सो भी साक्षात् अपने मुख से तो इस काल की छोटी सी आयुष्य में जितना हो सकता है, उतना ही कर सकते हैं। इसी लिये ग्रन्थरचना की परिपाटी को विद्वान् लोग विशेष उपयोगी समझते हैं। आज हजारों महात्माओं, आचार्यों और तत्त्ववेत्ताओं के नामस्मरण से लोग पवित्र हो रहे हैं, वह किसका प्रताप है? उनके बनाये हुए ग्रन्थों का ही। सैकडों वर्षों के पहिले जिनका स्थूलदेह, इस संसार में विद्यमान था, उनके उपदेशों से आज जो लोग महान् लाभ उठा रहे हैं, वह किसके द्वारा? उनके बनाए हुए ग्रन्थों के द्वारा। ग्रन्थ क्या हैं? महात्माओं का प्रसाद है। अथवा ग्रन्थ क्या हैं? महात्माओं, विद्वानों और उपकारियों के हृदयों की प्रतिकृतियां हैं। उन प्रतिकृतियों के देखने ही से हम उन महात्माओं, विद्वानों और उपकारियों के हृदयगत विचारों को जान सकते हैं। और उनके द्वारा ही हम उनके दिखलाए हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न भी करते हैं।

हमारे चरित्रनायकजी भी, इस जमाने के विद्यमान महात्माओं में से एक हैं, यह बात हम अच्छी तरह जान गये हैं। आप ने अपने मुखारविंद से उपदेशों द्वारा जनसमाज पर जो उपकार किये हैं, और अब भी कर रहे हैं, वह किसी से अज्ञात नहीं है। इसके उपरान्त आप ने कईएक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन ग्रन्थों की रचना आप ने काशी में रह करके ही की है।

काशी में आप जितने समय तक रहे, उसमें प्रारम्भ का बहुत समय तो आपका पाठशाला के स्थिर करने में ही व्यतीत हो गया था। अवि-

श्रान्त परिश्रम, आपको पाठशाला की जमावट के लिये करना पड़ता था। विद्यार्थियों को इकट्ठे करने और यात्रियों को उपदेश देकर के पाठशाला के लिये स्थायीफंड करने के लिये आप को जो समय का व्यय करना पडता था, उससे अधिक, बल्कि शेष का सारा समय विद्यार्थियों के पठन-पाठन की व्यवस्था करवाने एवं पढ़ाने में ही लग जाता था।

इतना होने पर भी, बंगाल में विहार करके पुनः काशी में आने के पश्चात् जब पाठशाला की जड जम गई, विद्यार्थि भी अच्छी संख्या में हो गये, फंड के लिये भी विशेष चिन्ता न रही, और सब प्रकार से सुख-रूप–बडे आनन्द से पाठशाला चलने लगी, तब, कुछ समय को बचा करके आप ने ग्रन्थों के लिखने का भी प्रारम्भ कर दिया। आज पर्यन्त आप ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है:–

१ धर्म-देशना।

यह गुजराती भाषा का ३४२ पृष्ठों का उपयोगी ग्रन्थ है। आप के सुमधुर उपदेशों से जैनों को तो क्या, लेकिन सर्वसाधारण मनुष्य-मात्र को जो प्रसन्नता होती है, वही प्रसन्नता आप के इस ग्रन्थ के पढ़ने से भी प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा सभी हिन्दी-गुजराती पत्रों में छप चुकी हैं। इसके सिवाय बम्बई के 'सांजवर्त्तमान' नामक गुजराती दैनिकपत्र के ता० १९ फरवरी १९१६ के अङ्क में मी. जी. के. नरीमान. जोकि, वर्त्तमान में, आर्च्योलोजिकल डिपार्टमेन्ट के डायरेक्टर जनरल के सहायक हैं, उन्होंने बडी विस्तृत समालोचना अंग्रेजी में की थी। उसमें इसी धर्मदेशना की प्रशंसा करते हुए यह भी लिखा है:-

Among the most energetic expounders of jainism to-day according to the traditional school and yet without any narrow prejudices is the illustrious Vijaya Dharma Suri of Gujarat. His **Dharma Desbna** is what may be called a handy manual of Jainism..............................The short chapters preceding the body of the book by way of an introduction, are full of practical information regarding the present state of Jainism. The text is concerned with the religious prescriptions of the Jains divided into four books which fall into a

number of brief chapters the whole being worthy of a place by the side of the small moral text-books published by the exponents of other religions in this presidency.................... The author, though an eminent recluse, is a keen observer of human nature and his remarks on the present spiritual condition of a certain portion of his flock are pungent, fresh and vivifying....................Something of a kindred spirit of satiric humour is found in this volume where several highly interesting stories are inter-oven in the sermons embodied in the various chapters.

अर्थात्—"गुजरात के विजयधर्मसूरि कि जो, जैनधर्म के वार्तमानिक वडे २ संशोधकों में से एक हैं, और जो गुरु परंपरा की चली आई पद्धति के अनुसार चलनेवाले होने पर भी किसी प्रकार द्वेष को नहीं रखते हैं, उनकी धर्म-देशना यह, जैनधर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रवेशक पुस्तक है। ... ...

मुख्य पुस्तक के प्रारंभ के छोटे प्रकरण, कि जो प्रस्तावना के रूप में दिये हुए हैं, वे जैनधर्म की *वार्तमानिक स्थिति की व्यावहारिक* सूचनाओं से भरे हुए हैं। जैनों के धार्मिक सिद्धान्त, जिनके चार विभाग किये गये हैं, और जिनमें संक्षेप से लिखे हुए प्रकरणों का संग्रह है, वे इस देश के अन्यधर्मों के संशोधन करने वालों की तर्फ से प्रसिद्ध हुए नैतिक ग्रन्थों के साथ रखने लायक हैं। .... इस ग्रन्थ के कर्त्ता यद्यपि एक महान् साधु हैं, तथापि वे मनुष्यजाति के स्वभाव का सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने वाले हैं। और उनकी, उनके संप्रदाय के किसी भाग की (अंश की) वार्तमानिक धार्मिकस्थिति विषय की टीकाएं, मनोहर, ताजी और विषय को पुष्ट करनेवाली हैं। ....

इस पुस्तक में, कि जिस में वहुत रस उत्पन्न करे वैसे वहुत से दृष्टान्त, भिन्न भिन्न प्रकरणों में दी हुई शिक्षाओं के साथ गुंथन कर दिये गये हैं, एक तरह का सेटायरिक हास्यरस का जोश देखने में आता है।"

'धर्म देशना' की महत्ता के लिये उपर्युक्त वचन कम नहीं है। इसकी दो हजार कापियां प्रथमावृत्ति में प्रकाशक ने छपवाई थीं। जिसमें थोड़े

ही दिनों में एक भी नहीं रहने पाई; अतएव इसकी दूसरी आवृत्ति में प्रकाशक को दो हजार कापियां छपवाने की आवश्यकता पड़ी। इसके सिवाय कई विद्वानों ने इसको हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और बंगला वगैरह अन्यान्य भाषाओं में अनुवाद करने का साग्रह अनुरोध भी किया है, यह भी इस पुस्तक की महत्ता को ही सूचन करता है। इस दूसरी आवृत्ति में आपने कई प्रकरणों की वृद्धि भी की है।

२ अहिंसादिग्दर्शन।

यह पुस्तक हिन्दी भाषा में है। इसकी कई आवृत्तियों में सात हजार कापियां हिन्दी में और दो हजार कापियां बंगाली में आज तक छप चुकी हैं, यही इसकी उत्तमता का प्रमाण है। इसमें हिन्दुधर्मशास्त्रों के प्रमाणों और युक्तियों द्वारा भी अहिंसा की पुष्टि विशेष की है। इसको पढ़ करके अनेकों मांसाहारियों ने मांसाहार करना त्याग कर दिया है, शिकारियों ने शिकार करना छोड़ा है, यहाँ तक कि खटमल, जू वगैरह जीवों को मारने वाले मनुष्यों ने भी उन जीवों को नहीं मारने का निश्चय कर लिया है। इस पुस्तक की रचना का प्रधान कारण, आपका बंगालप्रान्त का विहार ही है। बंगाल में विचरते हुए, कौन ब्राह्मण, कौन वैश्य, कौन क्षत्रिय और कौन शूद्र-सभी जाति के मनुष्यों में प्रायः मांसाहार का प्रचार जब आपने देखा, तब आपको ऐसे एक पुस्तक के लिखने की इच्छा हुई थी, और वह बनारस में आकर के आपने पूर्ण भी कर दी। यह बात पुस्तक की प्रस्तावना में स्पष्टरीत्या दिखलाई गई है।

३ जैनतत्त्वदिग्दर्शन।

यह छोटा, परन्तु जैनसिद्धान्त के जानने का बड़ा उपयोगी पुस्तक है। इसकी भी कई आवृत्तियों में कई हजार कापियां छप चुकी हैं। हिन्दी में ही यह पुस्तक है।

जिस समय कलकत्ते में कन्वेन्शन ऑफ रिलीज्यन्स (धर्मों की महासभा) का प्रथम अधिवेशन हुआ था, उस समय महासभाके मंत्री बाबू शारदाचरण मित्र (भूतपूर्व जज कलकत्ता हाईकोर्ट) ने आचार्यश्री को सभा में पधारने और जैनतत्त्वज्ञान के विषय में एक निबंध लिखने का निमं-

त्रण किया था। बस, इसी निमित्त को लेकर के ही आपने यह छोटा परन्तु उपयोगी पुस्तक लिखा था। जो कि–उपर्युक्त अधिवेशन में पढ़ा भी गया था।

४ जैनशिक्षादिग्दर्शन।

यह भी हिन्दी ही में है। इसकी भी कई आवृत्तियां निकल चुकी हैं। इसमें आपने, देव, गुरु और धर्म रूप नाव की परीक्षा कैसे करनी चाहिये? इन तीनों में कैसे कैसे गुण होने चाहियें। इत्यादि बातों की शिक्षा दिखलाई है।

इसकी रचना का निमित्त भी ऐसे ही हुआ है। जब उपर्युक्त महासभा का दूसरा अधिवेशन प्रयाग (इलाहाबाद) में हुआ था, उस समय भी आप को एक निबंध लिखने और सभा में पधारने का निमंत्रण आया था। और इसी निमित्त से आपने यह निबंध लिखा था।

५ पुरुषार्थदिग्दर्शन।

पुरुषार्थ किसे कहते हैं? पुरुषार्थ के भेदों से मनुष्यों के कितने भेद होते हैं, इत्यादि बातें बहुत ही रोचक-शास्त्रीय प्रमाणों से दिखलाई हैं। और इसके साथ ही साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन चार पुरुषार्थों का भिन्न २ मन्तव्यों को लेकर के बहुत ही अच्छा विवेचन किया है। यह भी हिन्दी ही में है।

६ आत्मोन्नतिदिग्दर्शन।

गुजराती भाषा में छोटी परन्तु आत्मकल्याणाभिलाषी मनुष्यों के लिये बहुत उपयोगी पुस्तक है। यह भी छप चुकी है।

७ इन्द्रियपराजयदिग्दर्शन।

पञ्चेन्द्रियों के तेईस विषयों को त्याग करने के लिये इसमें बहुत अच्छा उपदेश लिखा है। सो भी शारीरिक फायदों को दिखला कर के ही। प्रत्येक मनुष्य को अपने पास रखने लायक यह पुस्तक है। गुजराती में छप चुकी है। हिन्दी में अब छपेगी।

८ देवकुलपाटक।

यह एक गुजराती भाषा का ऐतिहासिक ट्रैक्ट है। उदयपुर के पास 'देलवाडा' नामक एक गाँव है। इसी का इतिहास इस पुस्तक में है।

देलवाड़े के प्राचीन मन्दिरों-में से मिले हुए शिलालेखों और प्राचीन पुस्तकों के प्रमाणों के साथ इतिहास की दृष्टि से लिखा हुआ बड़ा ही उपयोगी ट्रेक्ट है। हिन्दी और गुजराती के कई प्रसिद्ध पत्रों में इसकी प्रशंसा छपी है, इसके सिवाय बम्बई से निकलने वाले 'बाम्बे क्रोनीकल' पत्र के ता० २८-३-१८१६ के अंक में इसी ट्रेक्ट की लम्बी आलोचना प्रकाशित हुई है। उसमें प्रशंसा करते हुए यह भी लिखा है:—

For some years now the distinguished Jain religious head, the Acharya Shri Vijayudharma Suri, A. M. A. S. B., has been showing phenomenal energy in publishing a serie of important works treating of and in connection with Jain religion...

The Benares series brought out under his supervision would do credit to any European University. Perhaps the most important works are those relating to the history of the Jains in India..............................We believe that this series also contains the first Grammar ever published of the ancient Maghadhi language in which the Jain scriptures are embodied..........................We notice from time to time little brouchures of unusual interest published by the learned Jain ecclesiastic in Gujarati...one of his latest efforts throws considerable light on the antiquities of Delwada with the help of the decipherment of over twentyfive inscriptions.

अर्थात्—"अभी कतिपय वर्षों से जैनधर्म के प्रधान प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि ए. एम. ए. एस. बी. जैनधर्मसंबंधी उपयोगी कार्यों की आवृत्तियां प्रकाशित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न कर रहे हैं।..........

आप के दृष्टिपथ में निकलती हुई बनारस सीरीझ, हर एक यूरोपियन युनिवर्सिटी को शोभा देगी। इस सिरीझ में बहुत करके सब से उपयोगी में उपयोगी पुस्तकें भारतवर्षीय जैनों के इतिहास विषयक हैं।......

जैनशास्त्रों, कि जो प्राचीन मागधी भाषा में लिखे हुए हैं, उस भाषा का व्याकरण अगर किसी दिन छपा हो, तो वह इस ग्रंथमाला में प्रथम ही है, ऐसा हमारा मन्तव्य है। समय २ पर हम देखते हैं कि इस विद्वान् जैनाचार्य की तर्फ से असाधारण रस से भरी हुई छोटी छोटी पुस्तकें

गुजराती में प्रकाशित होती हैं।

आप की अभी प्रसिद्ध हुइ पुस्तकों में एक ट्रेक्ट, पच्चीस उपरान्त शिलालेखों के संशोधन से देलवाडे की प्राचीनता के ऊपर वहुत प्रकाश डालता है।"

आजकल आप का यत्न 'जैनइतिहास' के उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशित करवाने और संशोधन करने की ओर विशेष हो रहा है। यह कार्य जितना कठिन है, उतना ही महत्त्व का भी है। भिन्न २ स्वरूपों में पड़े हुए इतिहास के समस्त साधनों के नवीन रूप में प्रकट हो जाने के पश्चात् ही शृङ्खलावद्ध कोई भी इतिहास लिखा जा सकता है। साथ ही साथ हम यह भी अनुभव पूर्वक कह सकते हैं कि एक स्वतंत्र ग्रन्थ के लिखने में, जितनी कठिनाइयां उपस्थित नहीं होतीं, उतनी कठिनाइयां ऐतिहासिक किसी भी ग्रन्थ के संपादन-संशोधन करने में उपस्थित होती हैं। जो लेखक एक महीने में स्वतंत्र एक अच्छे ग्रंथ को लिख सकता है, उसी लेखक को, कभी कभी एक महीना तो दो एक बातों के ऐतिहासिक प्रमाणों के इकट्ठे करने ही में व्यतीत हो जाता है। आपने ऐसे ही परिश्रम के साथ ऐतिहासिकग्रंथों के संपादन करने का भी कार्य हाथ में लिया है। उपर्युक्त देवकुलपाटक के सिवाय

९ ऐतिहासिकरास-संग्रह भा० १

१० ऐतिहासिकरास-संग्रह भा० २

इस प्रकार ये दोनों भाग बड़ी योग्यता के साथ आपने संपादित किये हैं। 'सरस्वती' 'माडर्नरिव्यु' वगैरह कितने ही सुप्रसिद्ध मासिकों में इनकी प्रशंसा छप चुकी है। सिवाय इसके कितने ही विद्वानों ने प्रशंसा युक्त पत्र भी लिख भेजे हैं।

अभी और भी कई ग्रन्थों का संपादन आप कर रहे हैं। जो क्रमशः प्रकाशित होते रहेंगे।

इन पुस्तकों के सिवाय आपने जैन पत्रों में प्रसंग प्रसंग पर अनेकों लेख भी लिखे हैं। वे लेख भी इतने उपयोगी और गवेषणा पूर्वक लिखे गये हैं, कि यदि उनका संग्रह पुस्तक रूप से प्रकाशित किया जायगा, तो वह भी जन-समाज पर बड़ा उपकार करेगा।
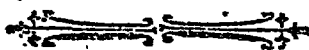
विहार का सूत्रपात

'समय बहुत हुआ'। 'इच्छा पूर्ण हुई'। 'करना था सो कर लिया'। 'अब गुजरात जाना चाहिये'। ऐसे विचार आपके मस्तिष्क में घूमने लगे। इधर रहते हुए करीब दश वर्ष व्यतीत हुए। पाठशाला के स्थापन एवं दृढ करने की इच्छा पूर्ण हुई। अपने साधु और गृहस्थ शिष्यों को भी विद्वान् किये। यहां एक ऐसी विद्या की प्रपा बना दी कि, अब जिसका जी चाहे सो यहां आवे और विद्यारूप अमृतजल का पान करे। किसी बात की यहां कमी नहीं। राजदरबार में जैनश्रद्धा के कायम करने की इच्छा भी पूर्ण हुई। जीवदया के लिये पशुशाला की भी पूर्ति हुई। अब आप ने गुजरात की ओर विहार करने का विचार किया। यह विचार ही, आपकी त्यागवृत्ति, निस्पृहता और आपके व्रतों की दृढता को दिखला रहा है। जहां बड़े बड़े राजे-महाराजे सम्मानित कर रहे हों, हजारों विद्वानों के केन्द्रस्थान में जिनकी अद्वितीयता प्रसिद्ध हो रही हो, और बड़े बडे विद्वान् भी पूज्यदृष्टि से देख रहे हों, उन सभी बातों पर तनिक भी ममत्व नहीं रख करके और उन सत्कारों में किञ्चिन्मात्र भी लिप्त नहीं हो करके, सर्वथा सानुकूल स्थान को छोड कर अपनी दृढ प्रतिज्ञा पर कायम रहना, कितना कठिन कार्य है, वह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। आप ने दृढ निश्चय कर लिया कि—अब काशी को छोड करके देश देशान्तरों में घूमते हुए मारवाड, मेवाड और काठियावाड की पवित्रभूमि में रहे हुए आबू, सिद्धाचल और गिरिनार एवं छोटे मोटे और भी तीर्थों की यात्रा करें। यह विचार आप ने सं० १९६८ में किया। और पौष वदि ४ (गुजराती मृगशीर्ष वदि ४) के दिन विहार करने का निश्चय भी कर लिया। बेशक, काशी में रहने से आपको, षड्दर्शन के ग्रन्थों का अवलोकन, अनेकानेक विद्वानों का समागम, धर्म-चर्चाओं और जैनेतर लोगों में जैनतत्त्वों के प्रकाशित करने का जो आनन्दानुभव हुआ था, इससे आपके दिल में इतना तो अवश्य था कि कुछ समय भिन्न २ देशों में विचर कर फिर काशी में आवें। अस्तु,

जब आप के विहार करने के दृढनिश्चय की बात शहर में प्रसिद्ध हुई। तब बड़े २ विद्वान्, साधु-संन्यासी और शहर के अग्रगण्य रईस आप से मिलने को आने लगे, और विहार नहीं करने के लिये साग्रह विनंति भी करने लगे। परन्तु जब आप ने, साधुधर्म के समझाने के साथ अपना दृढ निश्चय दिखलाया, तब जैन और जैनेतर समस्त समुदाय में असाधारण उदासीनता फैल गई। ठीक है, जिनके पवित्र उपदेश से हृदय निर्मल होते हों, जिनके साथ का थोडा भी समागम अपूर्व आनन्दानुभव कराता हो और जिनके दर्शनमात्र से मनुष्य को अपूर्व शान्ति मिलती हो, उनके वियोग की वार्ता के सुनने से ऐसा कौन कठिन हृदय का मनुष्य होगा, कि जिसके हृदय में आघात न पहुंचे ? । सब लोग उदासीन हो गये, और ऐसे स्वार्थत्याग और उपकार के आदर्शरूप जीवनवाले पवित्र महात्मा के दर्शन कब होंगे, इस बात को सोचने लगे। ऐसी अवस्था में भी वे अपने कर्त्तव्य-धर्म को न भूलें, यह खास उल्लेखनीय बात है। काशी के अग्रगण्य साधु-महात्माओं और बडे २ धनिकों ने आपको एक 'अभिनन्दनपत्र' देने का निश्चय किया। इसके लिये काशी की समस्त प्रजा की एक विराटसभा हुई। जिसके प्रेसिडेन्ट गाजीपुर जिला के भूतपूर्व कलेक्टर पं० रमाशंकरमिश्र एम० ए० हुए थे। इस सभा में आपको, काशी के अग्रगण्यों के हस्ताक्षरों के साथ जो अभिनंदनपत्र दिया गया था, वह यह है:—

शास्त्रविशारद-जैनाचार्य-श्रीविजयधर्मसूरिभ्योऽभिनन्दपत्रम्।

श्रीपरमात्मने नमः।

अनादिकालसे अद्यावधि यह भारतभूमि धार्मिक विद्वान् महात्माओंसे अटूट भरी है। परन्तु जीवोंके पुण्यसे कहीं कहीं महात्माओंका आविर्भाव दृष्टिपथ होता है; जैसे यह पृथिवी वसुंधरा कहलाती है, किन्तु रत्न तो कहीं कहीं परही दिखाइ देते हैं। इस विषयमें अपने देशवासी सज्जनों को हम एक महात्मा अकारण करुणाकर श्रीविजयधर्मसूरिजी महाराजका परिचय देते हैं। आपका आचार पादसे चलनेका तथा स्कन्धग्राह्यमात्र उपधिधारण करनेका होनेसे आपने गूर्जर देशसे पांवसे चलकर श्रीपरम-

पवित्र काशीपुरीमें पधारकर श्रीयशोविजयजैनपाठशाला स्थापित की। जिसमें जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, सभी लोक विद्याभ्यास करते हैं। आप जैन साधु होनेपर भी सभी मत पर प्रेमदृष्टि रखते हैं। आपने अल्प समय में विद्यार्थियोंको अच्छे विद्वान् बनाये हैं। जैनतत्त्वदिग्दर्शन तथा जैनशिक्षादिग्दर्शन बनाकर सभी मनुष्योंको जैनमतका रहस्य समझाया। और अहिंसादिग्दर्शन नामकी पुस्तक बनाकर जीवदयाका अच्छा प्रचार किया। जिन पुस्तकोंके देखने से कितनेही मनुष्योंका जैनधर्म के विषय में दुराभिप्राय था, सो सब दूर होगया। आपको शास्त्रज्ञ, विद्यानुरागी समझकर भारतवर्षके बडे बडे विद्वानोंने 'शास्त्रविशारद-जैनाचार्य' की पदवी दी है। जो कि आप जैसे विद्वान् महात्माको सर्वथा योग्य है।

सबसे बढकर प्रसन्नता का यह कारण है कि काशीक्षेत्र में पशुशालाकी बहुत आवश्यकता थी, सो वह भी आपने बडा प्रयास कर पूर्ण कर दी। आपने ९ वर्ष काशी में रहकर हमलोगों को बहुत संतुष्ट किया है। ऐसे ही निरपेक्ष महात्माओंसे भारतवर्षकी शोभा है। इस लिये हम सब संतुष्ट होकर उक्त महात्मा श्रीविजयधर्मसूरिजी को धन्यवादपत्र देते हैं। यद्यपि आपका काशीमें रहना बहुत लाभदायक है, तथापि आपका विहार करनेका दृढ संकल्प देखकर आपसे प्रार्थना करते हैं कि पशुशाला के अभ्युदयार्थ मेवाड, मारवाड, पञ्जाब, गुजरात आदि देशोंमें दो वर्ष भ्रमणकर पुनः अवश्य काशीमें पधारें और ज्ञानसंस्था (पाठशाला) तथा दयास्थान (पशुशाला) की उन्नति करें। मूक प्राणियोंके आशीर्वाद से हामारा, आपका तथा सब जगत्का कल्याण होगा। हम देशान्तरीय सज्जनोंसे भी प्रार्थना करते हैं कि पशुशाला की यथाशक्ति सब कोई सहायता करके पुण्य और यशके भागी बनें। और काशी जैसे क्षेत्रमें गवादिरक्षासे कितना भारी पुण्य है, सो शास्त्रविशारदजैनाचार्य श्रीविजय-धर्मसूरिजी के उपदेश से श्रवण करें। हम परमेश्वर से उक्त महात्माजीके प्रयासकी सफलता इच्छते हैं। ता–२६–११–१९११।

पंडित रमाशंकर, भूतपूर्व कलेक्टर गाजीपुर.	कृष्णचन्द्रजी चौधरी. अजमतगढवाले बाबू मोतीचन्दजी साहिब.

ज्ञानानन्दजी, संस्थापक भारतधर्म-महामंडल.
शशिशेखरेश्वरशर्मा.(राजा).सेक्रेटरी भारतधर्ममहामंडल.
बाबू केशवदास साहेब
राय कृष्णदास ,,
बाबू पुरुषोत्तमदास ,,
,, वैष्णुदास ,,
,, नरोत्तमदास ,,
,, रामप्रसाद चौधरी.
,, हरिदास, म्युनिसिपल कमिश्नर बनारस.
राय कृष्णचन्द्रजी.
विश्वम्भरदास चौधरी.
राय शिवप्रसादजी.
राव गोपालदासजी.
बाबू श्यामदासजी.
राजा माधोलालजी. सी. एस. आइ.
विन्ध्येश्वरीप्रसादजी, दीवान साहिब ऑफ श्रीमान् काशीनरेश.
ललितबिहारी सेन राय, प्राइवेट सेक्रेटरी टु हिज़ हाइनेस महाराजा ऑफ बनारस.
रामचन्द्रनायक कालिया साहेब.
महादेवप्रसाद, एम. ए. एल. एल. बी वकील, ॲन्ड म्युनिसिपल कमिश्नर बनारस.
श्रीश्चन्द्रभट्टाचार्यजी, मेडिकल प्रॅक्टिशनर बनारस.
डॉ० अमरनाथ बानर्जी, एल.एम.एस.
बटुकप्रसादजी खत्री.
जोशी दामोदरजी फॉर जोशी नारायण
शेठ अभयराम चुन्नीलालजी.

उपर्युक्त अभिनन्दनपत्र से हम काशी की प्रजा का प्रेम और कृतज्ञता को स्पष्ट देख सकते हैं। इस अभिनन्दनपत्र के उत्तर में आचार्य महाराज श्रीने कहा था:—

"सज्जनो ! यह काशीक्षेत्र जितना हिन्दुओं के लिये पवित्र स्थान है, वैसा जैनों और बौद्धों के लिये भी है। संक्षेप से कहा जाय तो काशी सब की मासी है। मासी के वहाँ सब के जाने का अधिकार है। और उनके वहाँ जाने से सब अपना घनिष्ठ सबन्ध समझते हैं। मैंने काशी में आकर के आज पर्यन्त जो कुछ कार्य किया है, वह मेरे कर्त्तव्य से अधिक नहीं है। हम भारतवर्ष के समस्त साधु अपने कर्त्तव्य को ही पालन करें, तो भारत का बहुत कुछ भला कर सकते हैं। परन्तु मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि—हमारा साधुवर्ग अपने कर्त्तव्यों को भूल गया है, इतना ही नहीं परन्तु साधु लोगों ने अपने आचार विचारों को भी तिलाञ्जलि दे दी है। गृहस्थों की तरह साधु भी द्रव्य को रक्खें, मकानों को रक्खें, रेल-इक्का-गाड़ी वगैरह वाहनों की सवारी

फरें, जूता-छाता रक्खें और यहाँ तक की अपनी इन्द्रियों को भी अपने स्वाधीन रखने का प्रयत्न न करें, तो फिर साधु ही किस बात के ?। सज्जनो। साधु और गृहस्थों में बड़ा भारी अन्तर है। इस अन्तर का विशेष विवेचन न करते हुए इतना ही अगर कहा जाय, कि-'गृहस्थानां यद् भूषणं, तद् साधूनां दूषणम्' तो अनुचित नहीं है। बस, एक ही वाक्य से आप लोग साधुओं का धर्म समझ सकते हैं। मैं स्पष्ट रूप से कह देता हूँ कि-काशी के इस अपूर्व आनंद को छोड़ करके भी मैं देश-देशान्तरों में विचरने के लिये जो तय्यार हुआ हूँ, इस का प्रधान कारण कोई है, तो वह 'साधुधर्म का पालन' ही है। हमारे परमात्मा महावीरदेव ने हमारे लिये ऐसा ही फरमान किया है कि-'तुम लोग किसी खास कारण के सिवाय एक स्थान में-एक गांव में बहुत काल तक मत रहो। क्योंकि-बहुत काल तक रहने से वहां के लोगों के साथ ही नहीं, उस मकान पर भी प्रेम हो जाता है। और वह प्रेम जिस समय 'ममत्व' का स्वरूप पकड़ता है, उस समय साधु अपने धर्म से गिर जाता है। संसार में 'मूर्च्छा' या 'ममत्व' यही दुःख का कारण है। फिर चाहे वह किसी भी वस्तु के ऊपर क्यों न रक्खा जाय ?। इस लिये मेरे विहार के लिये आप लोग सहर्ष सहानुभूति प्रकट करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

सज्जनो ! आप महानुभावों का मेरे प्रति जो अनुराग है, उसको मैं कभी न भूलूंगा। साथ ही साथ आप लोगों ने काशी में पुनः आने और पशुशाला और पाठशाला की सहायता के लिये मुझको जो अनुरोध किया है, इसके लिये भी मुझ से जहां तक बनेगा, प्रयत्न करता ही रहूँगा। अन्त में काशी की समस्त प्रजा को इस प्रकार के 'धर्मलाभ' रूप आशिर्वाद दे करके अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ:—

"दुर्वारा वारणेन्द्रा जितपवनजवा वाजिनः स्यन्दनौघा-
लीलावत्यो युवत्यः प्रचलितचमरैर्भूषिता राज्यलक्ष्मीः।
उच्चैः श्वेतातपत्रं चतुरुदधितटीसंकटा मेदनीयं
प्राप्यन्ते यत्प्रभावात् त्रिभुवनविजयी सोऽस्तु वो धर्मलाभः"॥१॥

विहार का प्रारंभ

आज पौष वदि ४ का दिन है । प्रातःकाल से ही श्रीयशोविजय पाठशाला के अंग्रेजीकोठी वाले मकान में सैकडों मनुष्यों का आना जाना हो रहा है । कई पंडित, साधु-संन्यासी और बडे २ रईस दसबजे तक आ चुके । सभी ने अपने अनुराग के कारण अपने २ इष्टदेवों से महाराजश्रीकी दीर्घायु और विहार की सफलता की प्रार्थना करने के साथ, आचार्य महाराजश्री से बार बार बहुत शीघ्र पुनः पधारने के लिये विनति की । आचार्यमहाराज ने, उन सभों को 'धर्मलाभ' का आशिर्वाद अंतःकरण से देने के साथ यही कहाः—"यद्यपि मैं अपने आचार के अनुसार इस समय विहार करता हूं । तथापि इस पवित्र काशी में मुझ को जो आनंद हुआ, वह मेरे हृदय से कभी हटनेवाला नहीं । मैं समझता हूँ कि-यह आनंदानुभव मुझको किसी देश में नहीं मिलने वाला है। तथापि कईएक कारणों से मैं विहार की इच्छा को रोक नहीं सकता । इतना होने पर भी मैं अपने इष्टदेवों से यही प्रार्थना करता हूँ कि-वे मुझ को बहुत शीघ्र काशी में आने का समय प्राप्त करावें ।"

बराबर बारह बजे आपने काशी शहर से प्रयाण किया । कई विद्वान्, बडे बडे धनी और विद्यार्थी आप को बहुत दूर तक बिंदा करने को आए । लोगों के पीछे लौटने के समय भी आपने सब को अन्तिम उपदेश दिया । इस अन्तिम उपदेश को सुनकर के जिस समय सब लोग पीछे लौटने लगे, उस समय सब लोगों के हृदय भर आए और नेत्रों से पानी बहने लगा ।

एक विद्वान् का कथन है कि—'संसार में सच्चे मित्र अगर कोई हों, तो वे गुरु ही हैं। ऐसे गुरु-मित्र के विरह का जो दुःख होता है, वह दुःख और किसी के वियोग से नहीं होता । यही कारण है कि-गुरु-साधु-महात्मा निःस्वार्थता पूर्वक ही संसार में परोपकार करते हैं ।'

आपनें काशी में रह कर जो परोपकार के काय किये थ, एवं जैन और हिन्दुओं का घनिष्ठ संबंध कर दिया था, यह बात किसी से छिपी नहीं थी। इस अवस्था में काशी की प्रजा आप के विहार से दुःखी हो, यह स्वाभाविक ही बात है। अस्तु,

आपने पहिला मुकाम काशी से ६ मील शिवपुरी में ऑनरेबल बाबू मोतीचन्दजी की धर्मशाला में किया। यहाँ भी काशी के कई सज्जन आए, और मिले। यहाँ से फिर रोज आठ-दश-बारह २ मील विहार करते हुए और छोटे बडे सभी गाँवों में उपदेश देते हुए आप

अयोध्या

पधारे। अयोध्या, हिन्दुओं का जैसे तीर्थ स्थान है, वैसे ही जैनों के लिये भी है। यहां जैनों के तीर्थकरों के १९ कल्याणक हुए हैं। परन्तु इस समय जैनों का एक भी घर नहीं। फिर भी आपने यहां कुछ दिनों की स्थिरता की, और एक व्याख्यान भिखुशा के मन्दिर में और दूसरा कनकभुवन में, इस तरह दो व्याख्यान दिये। सभापति हुए थे, अवधनरेश के प्रधान पंडित गणेशदत्तजी और आचार्य भगवानदासजी। अयोध्या की इन दो सभाओं का दृश्य कोई अपूर्व ही था। जिस अयोध्या में एक ही हिन्दुधर्म के हजारों मन्दिर हों, और जहाँ हिन्दुधर्म के पृथक् पृथक् संप्रदायों के हजारों साधु-संन्यासियों का समुदाय विद्यमान हो, उस अयोध्या के प्रधान हिन्दुमंदिरों (कनकभुवन और भिखुशा के मंदिर) के विशाल चौक में हजारों मठवासी साधुओं के बीच में उपस्थित हो कर एक जैनाचार्य व्याख्यान दें और साधुओं के वास्तविक धर्मों को समझावें, यह कितनी आश्चर्य की बात!!! इतना ही क्यों? आचार्यश्री के इन दोनों व्याख्यानों का यहाँ तक प्रभाव पडा था, कि—जैनधर्म और जैनसाधुओं को घृणा की दृष्टि से देखने वाले वैष्णवसाधुओं ने मुक्तकंठ से जैनधर्म और जैनसाधुओं के आचारों की तारीफ की। बल्कि कई ब्राह्मण पंडितों ने आचार्य महाराजश्री के साथ जैनमंदिर में आकर साष्टांग दंडवत् नमस्कार भी किया था। और जब तक आप अयोध्या में रहे, तब तक कई साधु और पंडित

आपके पास आते रहे, एवं ज्ञानगोष्ठी भी करते रहे। यहाँ से फैजाबाद में आकर के भी आप ने एक व्याख्यान दिया।

अयोध्या से लखनऊ आते हुए रास्ते में नवराई नामक एक गाँव आता है। पहिले यह बडा भारी नगर था। जिसको 'रत्नपुरी' कहते थे। यह भी जैनों का तीर्थस्थान है। क्योंकि-यहाँ जैनों के पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के च्यवन, जन्म, दीक्षा और कैवल्य-ये चार कल्याणक हुए हैं। आप यहाँ भी तीर्थयात्रा के निमित्त आए। जिस दिन आप यहाँ आए, उस दिन फैजाबाद जिले के पोलीस सुप्रिन्टेन्डेन्ट मि० सी० जी० डेन साहेब भी यहाँ ही थे। आचार्यश्री की आपके साथ अकस्मात् मुलाकात हो गई। आचार्यश्री के उपदेश से साहब को बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। और आपने सूरिजी महाराज के कहने से, यहां के जैनमंदिर के पिछले भाग में मांस बेचने वाले जो दुकानें खोलते थे, वे बंद करवा दीं। यहां से छोटे मोटे गाँवों में उपदेश करते हुए आप

लखनऊ

में आए। लखनऊ में करीब आपका एक महीना ठहरना हुआ था। इतने समय में आपने, 'रफा-ए-आम', 'अमीनाबाद पार्क', 'अजिता-श्रम' 'साह बंद्राबनदास का बंगला' वगैरह प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों में ९ पब्लिक व्याख्यान दिये। इन सभाओं के प्रेसिडेन्ट लखनऊ के प्रसिद्ध पुरुष हुआ करते थे। जैसे:—आनरेबल बाबू गंगाप्रसाद वर्म्मा, पंण्डित गोकर्णनाथ मिश्र एम. ए. एल एल. बी, पंडित रामनारायण वैद्य, आनरेबल बाबू मोतीचंदजी साहेब (काशीवाले) वगैरह। विषय रक्खे गये थे—'अहिंसा', 'मनुष्यकर्त्तव्य', 'पुरुषार्थ', 'देव-गुरु-धर्म का स्वरूप' इत्यादि। लखनऊ की समस्तप्रजा पर आपके व्याख्यानों का प्रभाव बहुत अच्छा पडा था। यहाँ आप के उपदेश से "काशीपशुशाला" के लिये रू० १२००) का चन्दा हुआ था। यहाँ से ही क्यों ? बनारस से यहाँ तक आने में रास्ते में जहाँ जहाँ आप का ठहरना हुआ था, उन प्रायः सभी गाँवों से थोडी बहुत सहायता करवाते ही रहे थे। लखनऊ में श्वेताम्बर-दिगंबर दोनों ही संप्रदायके जैन हैं। आप श्वेताम्बरीय

साधु होने पर भी, दिगंबर भी आपको बडी पूज्यबुद्धि से मानते थे, और सभी कार्यों में शामिल रहते थे। इसका यही प्रमाण है कि आप के व्याख्यानों के लिये, श्वेताम्बर संप्रदायके बाबू हीरालालजी चुन्नीलाल-जी जौहरी और दिगम्बर संप्रदायके बाबू अजितप्रसादजी एम. ए. एल-एल बी. ये दोनों अपने नामों से निमंत्रण पत्रिकाएं निकालते थे।

यहाँ से नबाबगंज, उन्नाव वगैरह में व्याख्यान देकर, लोगों को धर्मोपदेश देते हुए आपका

कानपुर

पधारना हुआ था। कानपुर में भी आप करीब एक महीना ठहरे थे। यहाँ भी आपके "थियेटर हॉल" में और अन्य पब्लिक स्थानोंमें ३-४ व्याख्यान हुए। डिप्टी चंपतराय जैन, बाबू संतोकचंदजी और लाला चंपालाल निवेदक थे। यहाँ एक ऐसा अकस्मात् प्रसंग आया कि-जिस समय आपको दो दिन एक साथ व्याख्यान देने के थे, उस समय प्रथम व्याख्यान के पहिले ही दिन रात में आपके हाथ में यकायक व्याधि हो गई। इस व्याधिने दूसरे दिन व्याख्यान का समय होते २ यहां तक जोर पकडा कि- आपको बुखार तक आ गया और वेदना भी बहुत होने लगी। दूसरी ओर व्याख्यानों के लिए नोटिसें निकल जा चुकी थीं। लोगों को बडी चिन्ता हो गई। सभों ने मिल करके प्रार्थना की कि- 'महाराज! आप में इतनी शक्ति नहीं है कि-आप व्याख्यान दे सकें। इस लिये हम लोग ऐसा प्रबंध कर देते हैं कि- जिससे लोगों को यह मालूम हो जाय, कि आज व्याख्यान नहीं है।' आचार्य महाराजश्री ने इसको स्वीकार नहीं किया। आपने व्याख्यान देने की ही हिम्मत की। आपने कहा:—'जो प्रतिज्ञा की है, उसका पालन अवश्य करना चाहिये। फिर, चाहे कुछ हो जाय। और मुझे जहाँ तक विश्वास है, व्याख्यान देने के समय चित्तवृत्तियां दूसरी ओर चली जायेंगी, जिससे पीडा कम मालूम होगी।' लोगों के बहुत कहने पर भी आपने व्याख्यान देने का निश्चय रक्खा। और दोनों दिन व्याख्यान दिये। यद्यपि व्याख्यान देने के परिश्रम से आपको तकलीफ बहुत हुई, परन्तु

आपने अपनी प्रतिज्ञा का यथास्थित पालन अवश्य किया। मनुष्यजाति के उद्धार के प्रति आप कितना लक्ष्य रखते हैं, इसके जानने का यह उत्तम प्रसंग है। यहां के पं० चन्द्रशेखर शर्म्मा, पंडित भालचंद्रजी, प्रो० माधवराम, प्रो० देवीप्रसाद शुक्ल और पं० बलदेवप्रसादजी वगैरह कई विद्वानोंने आपके साथ धर्मचर्चाएं करके आनंद प्राप्त किया था। सूरीश्वरजी के सुपरिचित और सुप्रसिद्ध '**सरस्वती**' मासिक के संपादक श्रीमान् **पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी** जी भी आपके पास आते थे, और आनंदानुभव करते थे। यहाँ की गौशाला के व्यवस्थापकों के निमंत्रण से आपने एक व्याख्यान गोशालाके वार्षिक अधिवेशन में भी दिया। आपने अपने व्याख्यान में, गौओंकी तरह सभी पशुओंकी रक्षा करने का भी अनुरोध किया था। आपके उपदेश के प्रभाव से, लोगों के हृदय में पशुरक्षा से भारी पुण्य होता है, ऐसा ज्ञान दृढ हो गया। और इसीसे गौशालाके कार्यकर्त्ताओंने ज्योंही चंदा शुरु किया, त्योंही १८ हजार रूपये इकट्ठे हो गए।

आपका एक व्याख्यान '**जीव**' और '**कर्म**' के विषय में भी हुआ था। इस व्याख्यान के श्रवण करने के बाद शान्तिगोपाल मुकरजी, अभयचंद्र चटरजी और श्रीयुत शिवशंकर खत्री वगैरह कई महाशयों को आचार्य श्री के साथ चर्चावाद करने से यह निश्चय हुआ कि–'**जगत् का कर्त्ता ईश्वर कभी नहीं हो सकता। जगत् अनादि अनन्त है, यह जैनों का मन्तव्य बिलकुल ठीक है।**' यहाँ से फिर आपने आगरे की ओर विहार किया।

कानपुर से आगरे तक में श्वेताम्बर जैनों का एक भी घर नहीं आता। सब जगह दिगम्बर हैं। परन्तु आप को इस से क्या संबन्ध था ?। जहाँ, जिनके हृदय में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त स्थापित हो रहा हो, वहाँ दिगम्बर हों, तौ भी क्या और श्वेताम्बर हों तौ भी क्या ?। आप के सर्व साधारण उपदेश के प्रभाव से हर एक जाति के मनुष्य आप को पूज्यबुद्धि से मानते हैं। कानपुर से आगरे आते हुए **बिल्होर, कन्नोज, फरुखाबाद, कायमगंज, कंपिलपुर, अलीगंज, किन्होर, मैनपुरी** और **फीरोजाबाद** वगैरह गाँवों में आप ने दो दो, चार चार, छे छे दिनों की स्थिरता करके कई व्याख्यान दिये। दिगम्बर लोग

आप को गुरु समझ कर के बडे भक्तिभावपूर्वक आग्रह कर के रखते थे, और व्याख्यान करवाते थे। आप ही के उपदेश से कनोज में एक जैनपाठशाला स्थापित हुई थी। किन्होर में, वहाँ के तालाब की मछलियों को कोई मार न सके, ऐसा प्रबन्ध गाँव के लोगों ने आप के उपदेश से किया था। मैनपुरी के दरबार राजा शिवमंगलसिंहजी ने आप से समागम कर के धर्मोपदेश सुना था। एवं यहाँ के लोगों ने यहाँ की 'गौशाला' को आप के उपदेश से समस्त पशु-पक्षियों की शाला—पशुशाला बना दी थी। फीरोजाबाद में न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजी ने पब्लिकसभा में आप की बडी ही तारीफ की थी। इस तरह अनेकों उपकारों को करते हुए वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन आप आगरे पहुँचे।

आगरे का चातुर्मास

आगरे में प्रवेश करने के समय आगरे के जैनसंघने आप का बड़ा भारी प्रवेशोत्सव किया था। यहां आपने आनरेबल राजा कुशलपालसिंह जी एम. ए. एल एल. बी. की अध्यक्षता में तीन व्याख्यान दिये। इसका बहुत ही अच्छा प्रभाव पडा। सिवाय इसके आप हमेशा प्रातःकाल ८ से १० बजे तक रोशनमहल्ले में व्याख्यान देते थे, जिसमें जैनों के उपरान्त हिन्दू और मुसलमान तक व्याख्यान श्रवण करने को आते थे।

यहां एक बात कह देनी चाहिये। जिस दिन से आपने काशी को छोड़ा था, उसी दिन से आपके मस्तिष्कमें यह विचार गूंज रहा था, कि किसी प्रकार इसी साल गुजरात पहुँच जाना और सिद्धाचल (पालीताने) में जाकरके चातुर्मास करना। क्योंकि ऐसा करने ही से पुनःशीघ्र काशी में आनेकी भावना सफल हो सकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु भावी के उदर में क्या भरा है, इसका किसको पता है? अगर ऐसा न होता तो काशी से यहां तक आने में ४॥-५ महीने लगही कैसे जाते? आप

चाहे जितने विचार करें, परन्तु लोगों के पुण्य भी तो मौजूद हैं। नहीं तो छोटे छोटे गाँवो में भी पांच पांच सात सात दिनों की स्थिरता कैसे हो सकती थी। अस्तु! अब, आगरे में कुछ दिन व्याख्यान वगैरह करके यहां से विहार करने का बिचार किया। इतने में आप को कानपुर से एक दुःखद समाचार मिला। आपके दो शिष्य-मुनिराज **श्रीमंगलविजय जी** और मुनिराज **श्रीन्यायविजयजी** कलकत्ता युनिवर्सिटी में **न्यायतीर्थ** की परीक्षा देने को गये थे। वे वहाँ से उत्तीर्ण होकर के गुरुसेवा में आते थे। इन दोनों के साथ एक और भी मुनि थे, जिनका नाम था मुनि **महेन्द्रविजयजी**। इस तीसरे मुनिजी का कानपुर में आकस्मिक स्वर्गवास हुआ। जब यह समाचार सूरिजी को मिला, तब आपके विहार के विचार में कुछ शिथिलता हुई। क्योंकि–कानपुर में रहे हुए दोनों मुनि, अब शीघ्र आप की सेवा में आना चाहते थे। कुछ दिनों में वहां से बहुत लंबा विहार करके शीघ्र वे गुरुसेवा में आ पहुँचे। इन दोनों के आगरे पहुँचने के बाद भी आप विहार करना चाहते थे, परन्तु यहां के जैन और जैनेतर लोगों के अत्याग्रह से यहाँ ही चातुर्मास करने का आपने निश्चय कर लिया। आगरे के चातुर्मास में आप के उपदेश से कितने ही अच्छे २ कार्य हुए। आप विशेष करके **बेलणगंज में सोरा-वाली कोठी** में रहते थे। दिन भर सैकड़ों मनुष्यों की गिरदी आप के पास रहा करती थी। धर्मचर्चा और शंका-समाधान करने के लिये जो लोग आते थे, वे बड़े प्रसन्न हो करके जाते थे। जैन गृहस्थों ने, खास करके आपके परम भक्त दानवीर **सेठ लक्ष्मीचंदजी वेद** और उनके सुशीलधर्म-प्रिय तीन पुत्रों–**सेठ अमरचंदजी, सेठ मोहनलालजी** और **सेठ फूलचन्दजी** तथा **सेठिये तेजकरणजी चांदमलजी** एवं **चोधरी भवानीदासजी** और उनके पुत्र **धर्मचंद्रजी** वगैरह ने आप के उपदेश से अच्छे २ कार्यों में अपनी लक्ष्मी के सदुपयोग करने में भी कमी नहीं रक्खी। सेठ लक्ष्मी-चन्दजी ने एक बड़ी भारी लायब्रेरी खोली, जिसमें अलभ्य करीब २००० पुस्तकों का संग्रह कर लिया। एवं आपने एकादशी की जो तपस्या की थी, उसके निमित्त आठ दिनों का बड़े समारोह के साथ अपूर्व उत्सव भी किया, जिसमें करीब पचीस से तीस हजार रूपयों का व्यय किया।

आग्रानिवासी शासनप्रेमी

दानवीर शेठ लक्ष्मीचंदजी वेद.

आप की और आपके तीनों पुत्रों की उदारता और गुरुभक्ति का हम वर्णन यहाँ नहीं कर सकते। आचार्य महाराजश्री के साथ जो दश गृहस्थ विद्यार्थी रहते थे, उनका भी खर्च आपने अपने सिर पर ही रक्खा था। सिवाय इसके और भी कई प्रकार के अच्छे २ कामों में आपने सद्व्यय किया।

इनके सिवाय सेठिये तेजकरणजी, चौधरी भवानीदासजी एवं शहर के अन्यान्य गृहस्थों ने भी आप के उपदेश से अच्छे २ कांम किये। जैसे काशी की पशुशाला में रु. २५००) भेजवाये।

आपके आगरे के चातुर्मास में जैन गृहस्थों को ज्ञान, ध्यान, तपस्या का भी बहुत लाभ हुआ। पर्युषणापर्व में लोगों को इस प्रकार आनंद आया कि-लोगों का कहना होता था कि 'पचास-सौ वर्षों में तो ऐसा आनंदानुभव कभी नहीं किया'। जिस दिन आपने आगरे से विहार किया, उस दिन छोटे बड़े तमाम लोगों की आंखों में से पानी की धारा बरस रही थीं। लोग आचार्य महाराज की मधुरवाणी का स्मरण करके आपकी भव्याकृति के सामने ही निर्निमेष होकर देखा करते थे। 'आह! इस पवित्र गुरुका आज विरह होगा?। अब इस गुरु की मधुर और गंभीर ध्वनि का आनंद कब मिलेगा।' ऐसा हृदय में सोचते हुए शोक करने लगे। वयोवृद्ध बाबू भवानीदासजी चौधरी ने अपने पुत्र बाबू धर्मचन्द्रजी को सूरिजी के साथ ही मथुरा तक गुरुभक्ति में भेजे थे। आज कल आगरे में जो श्रीशान्तिनाथजैनक्लब, और विजयधर्मसूरिजैनमंडल चल रहे हैं, उनका सर्वाधिकश्रेय बाबू धर्मचन्द्रजी को ही है। आगरा से आपने सं. १९५९ के मार्गशीर्ष सुदि २ के दिन मथुरा की ओर विहार किया।

"परोपकाराय सतां विभूतयः" सज्जन-महात्माओं की विभूति परोपकार के लिये ही होती है। जिन्होंने सांसारिक उपाधियों को सर्वथा छोड़ दी हैं, उन्हें परोपकार के सिवाय दूसरा कार्य ही क्या करने का है ?। लेकिन, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो आदर्श-साधु हैं। हमारे चरित्रनायकजी को, प्रतिसमय यह विचार रहा करता है कि—"इस संसार में, निःसार शरीर से कुछ न कुछ सार निकाल ही लेना चाहिये। और उस सार के निकालने का सब से बढ़ कर एक ही उपाय—'परोपकार' है। परोपकार में स्वोपकार भी रहा हुआ है। इसलिये उभयलाभ का ही प्रयत्न करना सर्वथा श्रेष्ठ है।"

इस बात के पुनः कहने की आवश्यकता नहीं जान पडती है कि—आपका प्रधान लक्ष्य गुजरात में आने का था। और आप अगर चाहते तो मालवा में हो करके बहुत शीघ्र गुजरात में आ सकते थे। क्योंकि—जिस समय आप गुजरात से काशी पधारे, उस समय मालवे के रस्ते से पधारे थे, इसलिये वह देश आप का परिचित था। परन्तु आप ने वैसा नहीं किया। आप ने यही विचार किया कि—'नये नये देशवासियों को उपदेश देने से विशेष लाभ हो सकता है।' ऐसा विचार कर आप ने मारवाड से ही हो करके गुजरात में आने का निश्चय किया।

मथुरा-वृन्दावन।

आगरे से विहार करके चार दिनों में आप मथुरा पहुँचे। एक समय वह था, जब कि, यह मथुरा जैनपुरी थी। परन्तु समय की बलिहारी है कि, आजकल एक भी जैन (श्वेताम्बर) का घर नहीं। ठीक है, परिवर्त्तनशील संसार है। मथुरा में आप वकील मूलचंदजी, जोकि दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं, इन्हीं के कमरे में ठहरे थे। यहाँ के म्युझियम के सुप्रिन्टेन्डन्ट रायबहादुर राधाकृष्णजी एक बडे प्रसिद्ध पुरुष हैं। सूरिजी

को आप से समागम हुआ। बात पर बात निकलते हुए रायबहादुर महाशय ने कहा:—"मुझे शुद्धहृदय से कहना पड़ता है कि—यह मथुरा जैनों के लिये प्रथम नम्बर, बौद्धों के लिये दूसरे नंबर, और वैष्णवों के लिये तीसरे नंबर है। निदान, यहाँ के कंकाली टीले से प्राचीन शिलालेख और मूर्त्तियाँ वगैरह जो कुछ वस्तुएँ निकली हैं, उनमें सब से अधिक प्राचीन वस्तुएँ जैनों की मिली हैं, तत्पश्चात् बौद्धों की, और सब से पिछले समय की वैष्णवों की। सातसौ वर्षों के पहले की तो वैष्णवों की कोई चीज ही नहीं मिलती।" इसलिये मथुरा जैनों के लिये बडा प्राचीन तीर्थस्थान है। यहाँ करीब पन्दरह सौ वर्षों के ऊपर श्रीमान् स्कंधिलाचार्य ने साधुमण्डल को इकट्ठा करके जैनसूत्रों की प्रथम वाचना की थी। जोकि, 'माथुरीवाचना' के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ से प्राचीन शिलालेख, मूर्त्तियाँ और अन्यान्य जो २ वस्तुएँ निकली हैं, वे ही इस बात का प्रमाण है कि—यहाँ जैनों का कितना प्राधान्य था। अस्तु। यहाँ एक अच्छा 'म्युझियम' भी है। आप ने रायबहादुर राधाकृष्णजी के निमंत्रण से इसका भी निरीक्षण किया। आगरेवाले सेठ मोहनलालजी वेद और बाबू धर्मचन्द्रजी चौधरी भी इसको देखने में आपके साथ ही थे। यहाँ दो व्याख्यान देकर के आप वृन्द्रावन पधारे। वृन्द्रावन में वैष्णवसम्प्रदाय के अनुयायी ही विशेष हैं। आप ने सेठ चंदनमलजी चांदमलजी के मकान में निवास किया। और यहाँ के प्रसिद्ध गोस्वामियों से मिल करके श्रीयुत मधुसूदन गोस्वामी के सभापतित्व में वैष्णवों के घेरे में व्याख्यान देने का निश्चय हुआ। और नोटिसें भी वितीर्ण हो चुकीं। परन्तु इतने में, जिस ईर्ष्या ने भारतवर्ष को गिरा दिया है, उसी ईर्ष्या ने इस समय भी अपना पाँव पसारा। आप के व्याख्यान की नोटिसें पढ़कर के कतिपय ईर्ष्यालु वैष्णवों के मनोमंदिर में ईर्ष्या ने इस विचार को जन्म दिया कि—'ऐसी वैष्णवपुरी में एक जैनाचार्य आ करके कैसे व्याख्यान दे सकता है?' इन ईर्ष्यालुओं ने जिस मकान में व्याख्यान होने का था, उस मकान के लिये निषेध करवा दिया। इतना होने पर भी आपको इस बात का जरा सा भी विचार नहीं आता था कि—'हम क्या करेंगे?।' जिसको निःस्वार्थवृत्ति से उप-

कार ही करना है, वे किसी के प्रतिबंध में नहीं आते। मकान हो तोभी क्या, और न हो तोभी क्या? आप सडक पर खडे होकर के व्याख्यान दे सकते थे। खैर, तिसपर भी आप का पुण्य तो कहीं नहीं चला गया था। उसी समय श्रीमान् राधाकृष्णजी गोस्वामी ने अपना कमरा खोल दिया और सभा का सारा प्रबंध कर दिया। इनके कमरे में सभा हुई। आचार्यश्री ने वडे आनन्द के साथ देशना सुनाई। देशना को सुनते ही वे महानुभाव, जिन्होंने सभा के नहीं होने देने के लिये जोर किया था, दाँतों में जिह्वा को दवाने लगे और पश्चात्ताप करने लगे कि,-"ऐसे विद्वान्, परोपकारी, निस्वार्थ महात्मा के व्याख्यान को नहीं होने देने के लिये हमने क्यों प्रयत्न किया?' वृन्द्रावन में विद्वान् वहुत हैं। जैसे मधुसूदन गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी, वलाखीलालजी, गोपाललालजी, पंचुलालजी, ललिताचरणजी, श्यामसुन्दरजी, वैष्णवचरणजी, वासुदेवजी, प्यारेलालजी, चतुरभुजजी, विहारीलालजी, नारायणलालजी, केशवदेवजी, श्यामलालजी, किशोरीलालजी, मदनमोहनजी, और व्रजलालजी वगैरह। ये सभी विद्वान् आप के व्याख्यान को श्रवण करने के लिये आये थे। सभापति मधुसूदनजी गोस्वामीजी ने आचार्य महाराजश्री और जैनधर्म की तारीफ करते हुए यह भी कहा था:-"वृन्द्रावन में यह प्रथम ही प्रसंग है और यह सौभाग्य का विषय है कि—एक महान् विद्वान् जैनाचार्य का व्याख्यान श्रवण करने का समय हम सव वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायियों को मिला है। अगर इसी तरह हर एक धर्म के अनुयायी लोग निःसंकोच भाव से एक दूसरे के स्थान में जाँय, उनसे वार्त्तालाप करें और उपदेशादि श्रवण करें, तो भारतवर्ष में पुनः प्रेम का प्रावल्य हो सकेगा और हम लोगों के अंतः करणों में जो संकुचितता प्रविष्ट हो गई है, वह भी सर्वदा के लिये दूर हो जायगी।"

वृन्द्रावन में वैष्णवों का 'आचार्यकुल' आर्यसमाजियों का 'गुरुकुल' है। इन दोनों का निरीक्षण भी किया। इसके पश्चात् आप पुनः मथुरा पधारे। मथुरा में फिर एक व्याख्यान 'जीव और कर्म' के विषय पर दिया। इसके उपरान्त एक व्याख्यान दिगम्बर जैनमंदिर में दिगम्बर जैनों की सभा में दिया। तदनन्तर यहाँ से विहार करके छोटे मोटे गाँवों

में होते हुए आप

भरतपुर

पधारे। यहाँ श्वेताम्बर जैनों के ८-१० घर हैं। जैन मंदिर भी पांच हैं। यहाँ भी आपने दो व्याख्यान किये। सभापति हुए थे, रायबहादुर धाउ-बखशी रघुवीरसिंह सरदार राज व मेम्बर कौन्सिल भरतपुर और रायबहादुर सरदार अमरसिंह साहेब डिप्टी क्लेक्टर भरतपुर। यहाँ भी आप के व्याख्यानों का प्रभाव अच्छा पड़ा।

भरतपुर से विहार करके सेवर, परहेसर, झालाटाला, महुवा, पीपरखेड़ा, मानपुर-पांचोली, डुब्बी, दौसा और काणोता वगैरह गाँवों में होते हुए आप जयपुर पधारे। उपर्युक्त छोटे छोटे समस्त गाँवों में आप उपदेश देना भूले नहीं थे। कहीं एक व्याख्यान दिया, तो कहीं दो। इन गावों में श्वेताम्बर जैनों का कहीं भी घर नहीं था। सब गाँवों में दिगम्बर और स्थानकवासी ही थे। दिगम्बर लोग मूर्त्ति को मानते हैं, किन्तु स्थानकवासी, जिनको ढूंढिये कहते हैं, वे मूर्त्ति को नहीं मानते। आचार्यश्री इन लोगों को उपदेश देने के समय यह भी अच्छी तरह समझाते थे कि—'मूर्त्ति के मानने की कितनी आवश्यकता है? जैन सूत्रों में मूर्त्तिपूजा का कहाँ तक प्रतिपादन किया गया है?। और युक्तियों द्वारा भी हमें यह ज्ञात होता है कि—मूर्त्तिपूजा करनी चाहिये। आप के उपदेश से कई महानुभाव मूर्त्तिपूजा को स्वीकार करते थे, और अपने यहां हमेशा दर्शन-पूजन करने का साधन भी कर लेते थे। सिवाय इसके आप के उपदेश से कई लोग ऐसी भी प्रतिज्ञाएं करते थे कि-'झूठे माप-तोल रखना नहीं' 'नियम के उपरान्त किसी से न्यूनाधिक देना लेना नहीं' 'कसाईयों के हाथ पशु बेचने नहीं।' वगैरह।

जयपुर

यहाँ आप का सत्कार बहुत अच्छा हुआ। श्वेताम्बर जैनों के घर भी बहुत हैं। जिन मंदिर छे हैं। यहाँ आप पचीस दिन ठहरे। रायबहादुर सेठ नवरंगरायजी सुप्रीन्टेन्डेट जेलखाना जयपुर, जैसे प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषों के सभापतित्व में आपने कई व्याख्यान किये। आप के

व्याख्यानों में यहाँ रहते हुए यति और खरतरगच्छ के साधु शिवजीराम जी एवं पंडित गोकुलचन्द वगैरह प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् भी आते थे। शिवजीरामजी, जो कि अच्छे विद्वान् थे, उन्हों ने आप से और आपके शिष्यों से धर्म्मचर्चा करके बहुत सन्तोष प्राप्त किया था। और अन्त में यही शब्द निकाले थे:—'जैसा सुना था, उससे कई गुना अधिक देखा। अपने धर्म में विद्वानों की तंगी थी, सो आपने पूर्ण कर दी।' आपने यहाँ की प्रसिद्ध प्रसिद्ध संस्थाओं का भी निरीक्षण किया। तत्पश्चात जयपुर से विहार करके भाखरोतावावड़ी, मेहला, दुदु, पाटड़ी वगैरह में होते हुए आप

किशनगढ़

पधारे। यहाँ सात जिन मंदिर हैं, और श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक जैनों के करीब घर दस हैं। पहले यहाँ मूर्त्तिपूजक जैनों के बहुत घर थे, परन्तु सत्योपदेशकों के अभाव से सब ढूंढक (मूर्त्ति को नहीं माननेवाले) हो गये। यहाँ की इस अवस्था को देख कर आप के अन्तःकरण में रञ्ज हुआ। यहाँ आपने तीन व्याख्यान दिये। जिस में एक व्याख्यान 'भगवद्भक्ति' पर दिया था। इस व्याख्यान में आपने शास्त्रीय और व्यवहारिक प्रमाणों से मूर्त्तिपूजा की अटल रीति से सिद्धि कर दिखलाई थी। इस समय यहां ढूंढक सम्प्रदाय के साधु नन्दलालजी वगैरह विद्यमान थे। इनका और आचार्यश्री के शिष्यों का कभी कभी बाहर जाते आते मेल-मिलाप हो जाता था। और आपस में बात चीत भी हुआ करती थी। इन ढूंढक साधुओं ने चाहा कि-इन साधुओं से शास्त्रार्थ करें। बल्कि अपने एक श्रावक को आचार्य महाराजश्री के पास सूचना देने के लिये भेजा भी। यद्यपि आचार्य महाराजश्री और आप के शिष्य इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि—इस जमाने में शास्त्रार्थ करने में सिवाय वितंडा और थूंक उडाने के और कुछ भी सार नहीं निकलता; तिस पर भी जब उन लोगों ने विशेष उत्तेजना की, तब आपने अपने प्रधान शिष्य इतिहासतत्त्वमहोदधि इन्द्रविजयजी और न्यायतीर्थ न्यायविशारद मुनिराज श्रीमंगलविजयजी को उन साधुओं के पास भेजे। इन दोनों के आपस की चर्चा में, राज्याश्रित पण्डित वशिष्ठशास्त्री एवं पं-

मदनगोपाल ज्योतिर्विद् वगैरह भी उपस्थित थे। कई घण्टों तक चर्चा होती रही। ढूंढक साधु, इनके एक भी प्रश्न का उत्तर न दे सके, आखिरकार 'समय नहीं है' ऐसे बहाने को बता कर मौन हुए। वहाँ बैठे हुए सभी मनुष्य इस बात को समझ गये, कि ढूंढक साधु निरुत्तर हुए। मध्यस्थ रहे हुए पंडित वसिष्ठशास्त्री और पंडित मदनगोपाल ज्योतिर्विद् ने इस चर्चा में इन्हों को जो सत्य सत्य माळूम हुआ, वह 'ढूंढक प्रतिवादावलोकन' नामक लेख से छपवा भी दिया। इस अवलोकन के निम्न लिखित शब्दों से ही ज्ञात हो जाता है कि-परिणाम क्या हुआ ?:-

"व्याकरण और न्यायशास्त्र को नहीं जानने वाले और सूत्रतात्पर्य को नहीं समझने वाले तथा अण्डमण्ड पद का अर्थ करने वाले ढूंढक साधुगण, आचार्य महाराज के शिष्यों द्वारा प्रतिपादित किये हुए युक्त अर्थ को चिरकालिक मिथ्यात्व रूपी पिशाच के आवेश से नहीं मानते थे। और कदाग्रहरूपाग्रह से गृहीत होने के सबब से अर्थ का अनर्थ करते थे।"

आचार्य महाराजश्री ने यहाँ के प्राचीन पुस्तक भंडारों का भी अवलोकन किया, जिसमें आपने कई अलभ्य पुस्तकें देखीं। इन भंडारों में से एक भंडार यहाँ के श्राद्धगुणसंपन्न श्रीयुक्त रणजीतमल्लजी नाहटा के पास था। आचार्यमहाराजश्रीने इस भंडार में कई हस्तलिखित प्राचीन अलभ्य पुस्तकें देखीं। श्रीयुत नाहटा जी ने विचार किया कि-'हम-गृहस्थों के पास इन पुस्तकों के रहने से इनका कुछ भी उपयोग नहीं होता है। बल्कि-धीरे धीरे कीडों से नष्ट हो जाती हैं। इससे तो सूरीश्वरजी महाराज जैसे विद्वान् महात्माजी को ये पुस्तकें भेंट कर दी जायँ, तो कितना ही लाभ हो सकता है। आप के पास इन पुस्तकों के रहने से हर तरह से इसका सदुपयोग ही होगा।" बस, ऐसा विचार करके आप ने अपना सारा भंडार, जिसमें करीब दश लाख श्लोक प्रमाण के ग्रन्थ आचार्य श्री को बड़ी उदारता के साथ भेंट कर दिये। सचमुच, श्रीयुत नाहटाजी ने इस कर्त्तव्य से महान् लाभ उपार्जन किया है, और वे अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं। यहाँ से विहार करके आप

अजमेर

आए। अजमेर राजपूताना का केन्द्र स्थान है। यहाँ जैनों की वस्ती भी अच्छे प्रमाण में है। यहाँ के जैनों ने आपका धूमधाम से सत्कार किया। यहाँ भी आप ने कई पब्लिक व्याख्यान किये। यहाँ के श्रावक सेठ हीराचंदजी सचेती, श्रीयुत धनराजजी कासटीया और रायवहादुर सेठ सौभाग्यमल्लजी ढड्ढाने आपके उपदेश से प्रत्येक कार्यों में अच्छा योग दिया। रायवहादुर पण्डित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा सुप्रिन्टेन्डेट म्युझियम, और श्रीमान् पंडित चन्द्रधरजी गुलेरी बी० ए० इन महानुभावों ने सूरीश्वरजी महाराज से समागम करके वहुत संतोष पाया। श्रीयुत ओझाजी ने अपनी बनाई हुई अप्राप्य पुस्तकें सूरिजी को सहर्ष भेंट कीं। और साथ में रह करके म्युझियम के सारे विभागों को दिखाया। इन दोनों महानुभावों को आचार्य महाराजश्री की विद्वत्ता और चारित्र के ऊपर इतना अनुराग उत्पन्न हुआ कि—वे आचार्य महाराजश्री को बड़ी पूज्यबुद्धि से देखते हैं, और आज पर्यन्त घनिष्ठ संबंध रखते आए हैं। यहाँ से खेरवा हो करके

ब्यावर (नयाशहर)

पधारे। ब्यावर छोटा परन्तु रमणीय नगर है। श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक जैनों के करीव सौ-सवासौ घर हैं। और स्थानकवासियों के घर हैं पाँच सौ। यहाँ के जैनों के अत्याग्रह से आप ने यहाँ ही चातुर्मास किया। आपके यहाँ विराजने से वहुत लाभ हुए। कई स्थानकवासी मूर्त्तिपूजा करने लगे। यहाँ के जैनों ने बड़े समारोह के साथ आपके हाथ से यहाँ के मंदिर में प्रतिष्ठा करवाई। जिसमें वहुत द्रव्य व्यय किया। इसी उत्सव पर यहाँ के सेठ बख्तावरमल्लजी कुन्दनमल्लजी ने एक चाँदी और सुवर्ण का समवसरण (भगवान् को विराजमान करने का) साढ़े तीन हजार रुपये का श्रीमंदिरजी में भेंट किया। आप ने यहां के गृहस्थों को काशी की पशुशाला के लिये भी उपदेश दिया, जिससे करीव छब्बीससौ रुपये पशुशाला में गये थे।

आप ने चातुर्मास की स्थिति में कई पब्लिक व्याख्यान भी दिये।

आपके इन व्याख्यानों का प्रभाव जैनों के उपरान्त जैनेतर प्रजा में भी बहुत अच्छा पड़ा। आपने यहां की **नागरीप्रचारिणी** सभा की ओर से 'मातृभाषा' के विषय में एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया था। आप के उपदेश के प्रभाव से सभा को आर्थिक सहायता भी अच्छी मिली, एवं मेम्बर भी बढ़े, इस बात का उल्लेख सभा के मंत्री ने, सभा की तर्फ से आप को दिये हुए धन्यवाद पत्र में स्पष्टरीत्या कर दिया था। ऐसे ऐसे अनेकों सार्वजानिक कार्यों में अपने प्रभावशाली उपदेश द्वारा योग दिया था। जैसे 'दक्षिणअफ्रीका' में भारतवासियों को जो अश्राव्य कष्ट हो रहा था, उनको सहायता करने के लिये आप के उपदेश से यहां अच्छा फंड एकत्रित हुआ था। आप के उपदेश से बहुत से जैनेतर महानुभावों को भी जैनधर्म के प्रति अनुराग बढ़ा था। **पारसी धनजीभाई**, जोकि, एडवर्ड्स् मिल के इंजिनियर थे, जैनधर्म के परम अनुरागी हुए थे। और जैनधर्म के तत्त्वों को समझने के लिये दो दो तीन तीन घंटों तक प्रति दिन आचार्य महाराजश्री के पास आया करते थे। एवं **श्रीयुत भगवानदास ओझाजी** भी आप के परम भक्त हुए थे।

चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् आप को शीघ्रही विहार करना था, परन्तु इतने में एक और प्रश्न उपस्थित हुआ। आप के शिष्यमंडल ने, एवं यहां के जैनगृहस्थों ने आप से प्रार्थना की कि-इतिहासतत्त्वमहोदधि मुनिराज **श्रीइन्द्रविजयजी** को '**उपाध्याय**' पद और न्यायतीर्थ-न्यायविशारद मुनिराज **श्रीमंगलविजयजी** को '**प्रवर्त्तक**' पद देना चाहिये। आचार्यश्री ने इस विनति का स्वीकार भी कर लिया।

यहां यह कहना आवश्यक है कि—जैनसाधुओं में पांच प्रकार के पद होते हैं:—**१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ प्रवर्त्तक, ४ गणी,** और **५ गणावच्छेदक**। इन पांचों पदवीधरों के कर्त्तव्य भी भिन्न भिन्न हैं। जो बड़े गच्छनायक (आचार्य) होते हैं, इनके साथ ये 'पदवीधर' रहते हैं। आप इस जमाने के एक बड़े धुरंधर आचार्य हैं। अतएव आपके पास इन पदवीधरों की आवश्यकता अवश्य थी।

ब्यावर के संघने यद्यपि चातुर्मास में आपके उपदेश से अच्छे अच्छे

कार्यों में बहुत द्रव्य व्यय किया था, तिस पर भी

उपाध्यायादि पदों का उत्सव

करने में संघने अपना परम सौभाग्य समझा। और बड़े समारोह के साथ उत्सव आरम्भ कर दिया। यहां के सङ्घ ने देश-देशान्तरों में इस उत्सव पर आने के लिये निमन्त्रणपत्र भेजे। और इससे अजमेर, जोधपुर, किशनगढ़, सोजत, पाली, सादड़ी, पालीताना, कानपुर, लखनौ, फलोधी, मेड़ता, बनारस, खुंटवड़ा, दाठा, राधनपुर, केकड़ी, लींबड़ी, खेरवा, आउवा, पिसांगण, चंडावल, चुडावा और केलवाल वगैरह कई गाँवों के जैन इस उत्सव पर एकत्रित हुए। ब्यावर के जैनसंघ ने और खास करके गादिया बख्तावरमलजी केशरीमलजी ने उन लोगों की भक्ति करने में कोई बाकी नहीं रक्खी। इस पदप्रदान के निमित्त पर यहां के जैनसंघ ने आठ दिनों तक उत्सव किया था। ऐसे उत्सवपूर्वक मार्गशीर्ष शुक्ला ६ (सं० १९७०) के दिन आचार्यश्री ने, मुनिराज श्रीइन्द्रविजयजी को 'उपाध्याय' पद और मुनिराज श्रीमंगलविजयजी को 'प्रवर्त्तक' पद प्रदान किया। इसी समय विद्यार्थी वृद्धिलालजी को दीक्षा भी दी गई। वृद्धिलालजी के पिता और बडे भाई दोनों इस उत्सव पर आए थे, और प्रसन्नता के साथ दीक्षा लेनें की आज्ञा भी दी थी।

इस बात को हम लोग अच्छी तरह जानते हैं कि–हाथी की अंबाडी हाथी को ही शोभा दे सकती है, टट्टू को नहीं। वैसे ही किसी प्रकार की उपाधि-पद भी उसी मनुष्य को शोभा दे सकता है, जो इसके योग्य होता है। मुझे खेद के साथ लिखना पड़ता है कि–आज कल हमारे जैनों में पदों के लेने-देने की एक प्रकार की ऐसी चाट लग गई है कि—जिससे योग्यायोग्य की परीक्षा तक भी नहीं की जाती। जो जिसके मन में आता है, वह उपाधि ले बैठता है। और अपनी मतलब के लिये देनेवाले दे भी देते हैं। कई जगह ऐसा भी होता है कि–गुरु सिर्फ अपने शिष्य को राजी रखने के लिये ही उसकी योग्यता का विचार नहीं करके बडी बड़ी पदवियां दे देते हैं। जब एक को कोई पद दिया जाता है, तब दूसरा झट मुँह सिकोड कर बैठ जाता है। गुरु

विचार करते हैं कि, अगर इसको राजी नहीं रक्खेंगे, तो यह बाहर निकल करके सब पोल खोल देगा अथवा निंदा करेगा। बस, इसी डर के मारे उसको भी एकाध उपाधि दे देते हैं। फिर चाहे वह निरक्षर ही क्यों न हो। जहां इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों ही अपने २ स्वार्थ का खेल खेलते हों, वहां पदवियों की वास्तविक सार्थकता कैसे हो सकती है? अस्तु, हमारे आचार्यश्रीने जिनको उपर्युक्त दो पदवियां प्रदान कीं, उनकी योग्यता के विषय में दो मत थे ही नहीं। श्रीमान् इन्द्रविजय जी महाराजश्री की विद्वत्ता इस देश में ही नहीं, परन्तु पाश्चात्यविद्वानों में भी सुप्रसिद्ध हो चुकी थी। काशी की **श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला** ने अपनी शुद्धता और उपयोगिता में जो प्रथम नंबर पाया था, वह किसका प्रताप था?। महाराज श्रीइन्द्रविजय जी की विद्वत्ता का। इस बात को ग्रंथमाला से परिचित हर एक मनुष्य स्वीकार कर सकता है। इसके उपरान्त आपकी इतिहास विषय में जो अद्वितीयता है, यह भी किसी से छिपी नहीं। इसलिये आप **'उपाध्यायपद'** के लिये सर्वथा योग्य ही थे। मुनिराज श्री मंगलविजयजी की योग्यता के लिये कलकत्ता युनिवर्सिटी का **'न्यायतीर्थ'** और बंगीय विद्वानों का दिया हुआ **'न्यायविशारद'** ये दो टाइल ही प्रमाणभूत हैं। इसलिये सूरिजीने अपने उपर्युक्त दो शिष्यों को जो 'पद' दिये, वे सर्वथा उचित और योग्यतानुसार ही थे। और इस विषय में "जैन" पत्र के अधिपतिने एक नोट लिख कर हर्ष भी प्रकट किया था। आपने इसी वर्ष में एक और बड़े महत्त्व का कार्य किया। वह है

आबू के जैनमंदिरों की आशातना बन्द

करने का। आपके मनोमंदिर में कई वर्षों से इस विचार ने स्थान पाया था कि—'आबू के पवित्र मंदिरों में अंगरेज लोग बूट पहन करके जाते हैं, यह बिलकुल अनुचित कार्य होता है।' परन्तु इसके लिये जबतक सानुकूल संयोग न मिलें, तब तक इस कार्य को हाथ में लेना आप पसंद नहीं करते थे। यद्यपि आप इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि, जैनों की तर्फ से करीब चालीस वर्षों से प्रयत्न हो रहा है और पिछले कुछ वर्षों

से '**जैन श्वेताम्बर कान्फरन्स**' भी प्रयत्न कर रही थी, परन्तु इसका कुछ भी शुभ परिणाम नहीं दिखाई देता था। जब आपने आगरे से मारवाड (राजपूताने) की ओर बिहार किया, तब आपको यह विचार उपस्थित हुआ कि—'राजपूताने में जाते हैं, तो वहां के एजन्ट टू दी गवर्नर जनरल की मुलाकात हो, तो अच्छा। उस समय आबू के विषय में सब बातचीत भी हो सकती है।' ऐसा विचार करके आपने एक पत्र, इंडिया ऑफिस लायब्रेरी, लंडन के चीफ लायब्रेरीयन **डॉ० एफ० डब्ल्यू० थोमस** को लिखा, उस में यह लिखा कि—"मैं, हमारे पवित्र तीर्थ आबू के जैनमंदिरों में अङ्ग्रेज लोग बूट पहन कर जाते हैं। इस विषय में बातचीत करने के लिये राजपूताना के एजंट टू दी गवर्नर जनरल सर इ० जी० कालिवन साहब से मिलना चाहता हूं। अगर आप उनके ऊपर एक पत्र लिख भेजें, तो मुझको बहुत अनुकूलता होगी।" इसके बाद जिस समय आप अजमेर पधारे, उस समय **एजन्ट टू दी गवर्नर जनरल सर इ० जी० कालिवन साहब** का मुकाम भी अजमेर ही में था। आपने सर कालिवन साहब से मिलने के लिये पहले ही से समय निश्चय करवा लिया। और तदनुसार ता० २० मार्च स०१९१३ के दिन पौने ग्यारह बजे आपका **सर कालिवन साहब** से मिलना भी हुआ। इस समय आपके साथ, आपके कतिपय साधु शिष्यों के उपरान्त **सेठ हीराचन्दजी सचेती, रायबहादुर सेठ सौभाग्यमलजी ढड्ढा, श्रीयुत वृद्धिचन्द्रजी ढड्ढा, श्रीयुत भूरेलालजी एम० ए० एल० एल० बी०** वकील, वगैरह गृहस्थ भी थे। सर कालिवन साहब ने आचार्य महाराज श्री का अच्छा सत्कार किया, और पश्चात् कहाः—'लंडन से डॉ० थोमस साहब ने मेरे नाम पर एक पत्र भेजा है। तो, आबू के विषय में आप क्या चाहते हैं?।' आचार्यमहाराज श्रीने कहा:—"मैं और कुछ नहीं चाहता। सिर्फ यही चाहता हूँ कि–आबू के मंदिरों में कोई भी मनुष्य बूट पहन करके न जाने पावे।" इसके उपरान्त इस विषय में और भी जो २ बातें समझाने की थीं, समझा दीं। अन्त में सर कालिवन साहब ने कहा:—'आप अरजी दिलवाइये, मैं अपना अभिप्राय लिखकर के भेज दूंगा। जिससे प्रायः आपका कार्य सिद्ध हो जायगा।'
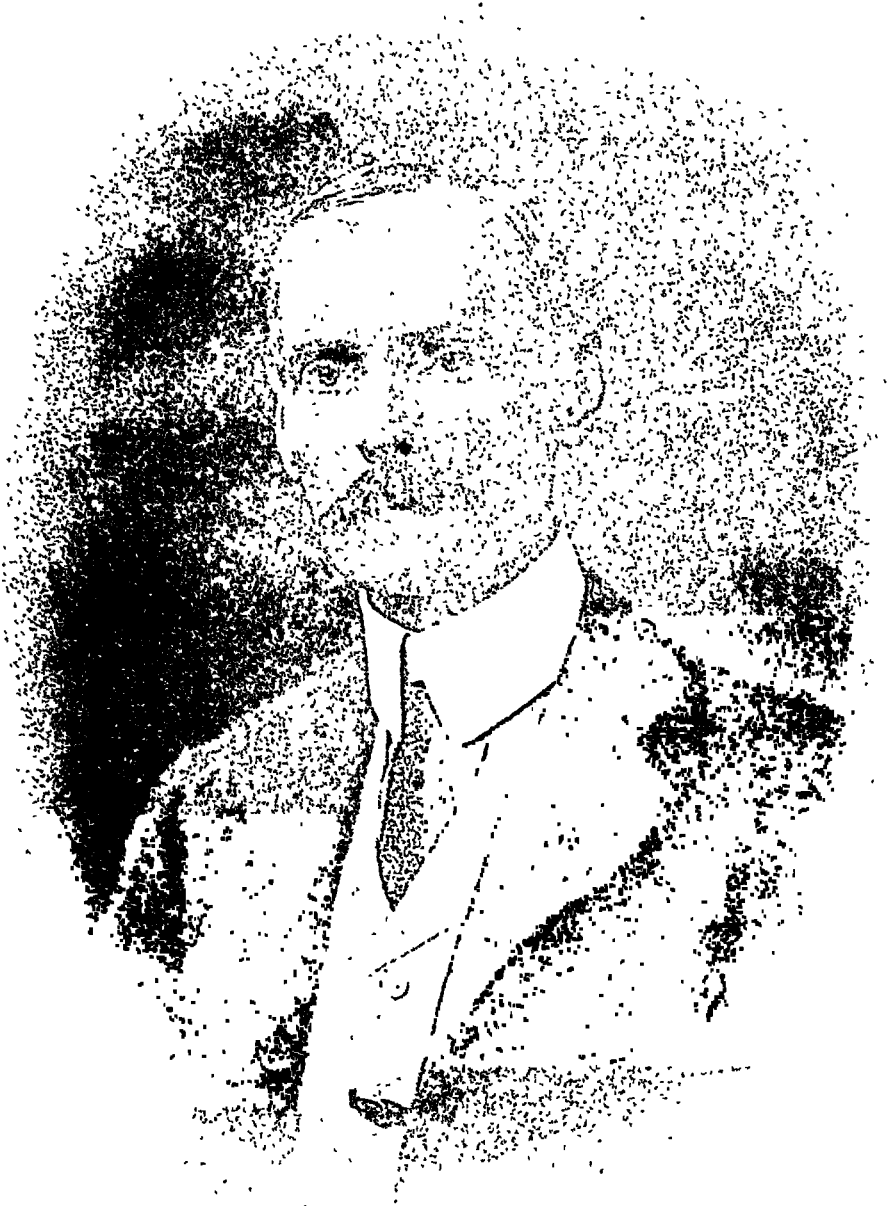
दी आनरेबल सर इलियट ग्राहम कालविन, के.सी.एस.आइ., सी.एस.आइ.,
आइ. सी. एस., एजण्ट टु दी गवरनर जनरल फ़ार राजपुताना,
पैट्रन, जैन लिटरेरी कानफ़रेंस, जोधपुर.

तत्पश्चात् सर काल्विन साहेब की सूचनानुसार **श्रीविद्योन्नति जैन सभा राजपूताना** के प्रेसिडेन्ट **सेठ हीराचंदजी सचेती** के नाम से एक अरजी भी दी गई। कुछ दिनों में लंडन से **डा० थोमस साहब** का आप को एक पत्र मिला, जिससे यह प्रतीत होता था कि, शीघ्र कार्यसिद्धि होगी। तत्पश्चात् थोड़े ही दिनों में गवर्नमेन्ट आफ इन्डिया ने ऐसा हुक्म प्रकाशित किया कि—'**आबू के जैनमंदिरों में यूरोपीयन विज़िटर्स चमड़े के बूट निकाल कर, उसके बदले केनवास के स्लीपर पहन कर के जा सकेंगे।**'

आचार्य महाराजश्री के प्रयत्न ने जो सफलता प्राप्त की, उसमें आप का पुण्य-प्रताप ही कारण है। आप को इस कार्य की सफलता में **डा० थोमस साहब** ने जो सहायता की थी, वह सचमुच अत्यन्त प्रशंसनीय थी। लंडन में बैठे हुए वहां के अधिकारियों में इस विषय का जो आन्दोलन उन्हों ने किया था, उसको हम यहां प्रकट करना नहीं चाहते। परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि—इस कार्य की सफलता में जैन समाज, जैसे आचार्य महाराजश्री की ऋणी हुई है, वैसे ही डा० **थोमस साहब** की भी ऋणी हुई है। इतना होने पर और सब लोगों के जानते हुए भी जैन कान्फरन्स के कतिपय अदीर्घदर्शी नेतागण अपने कर्त्तव्य से सर्वथा विमुख रहे, यह महान् खेद का विषय है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि—अगर दूसरी समाज के किसी पुरुष ने ऐसा महत्त्व का कार्य किया होता, और डॉ० थोमस जैसे किसी साहब ने इतनी सहायता की होती, तो उस समाज के नेतागण अपने कर्त्तव्य से इस प्रकार विमुख कभी नहीं रहते। यद्यपि हम इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि—आचार्य महाराजश्री ने जैनसमाज की उन्नति के जो जो कार्य अब तक किये हैं, और करते हैं। वे, अपना कर्त्तव्य समझ करके ही, नकि किसी प्रकार के यश-प्रतिष्ठा की आशा से। इसी तरह, इस आबू के कार्य में **डा० थोमस साहब** ने जो मदद की थी, वह भी किसी प्रकार की आशा से नहीं। परन्तु, इस संसार के रंगमंडप में सब सब के कर्त्तव्य भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। और सभों ने अपने अपने

कर्त्तव्यों को पालन करना चाहिये। कर्त्तव्य विमुख मनुष्य कृतघ्न गिना जाता है। इस नियम को ख्याल में रखने के लिये इतना लिखना पड़ा है।

जिस समय आबू के मंदिरों की आशातना दूर होने के शुभ समाचार गवर्नमेन्ट आफ इन्डीया की तर्फ से प्रकाशित हुए, उस समय आप ब्यावर में ही थे। अतएव ब्यावर के श्रीसङ्घ की तरफ से नगरसेठ उदयमल्लजी शाह ने खुशाली और उपकार प्रदर्शक जो तार और पत्र डॉ० थोमस साहब के नाम भेजे थे। उनका जो प्रत्युत्तर आया था, वह यह है :—

INDIA OFFICE LIBRARY
WHITEHALL. S. W.
November 21—1913

DEAR SIR,

Pray accept my cordial thanks for your too appreciative letter concerning the matter of the entry of visitors into the Delwara sanctuary of Mt. Abu. I am happy to know that your community has been faced from what was felt to be a grievance and, an indignity to your religion, and I share your feelings and satisfaction. No doubt you have expressed to sir Eliot Colvin your thanks for his sympathetic consideration of the matter, indeed I feel sure that every Englishman in India would be unwilling that the feelings of so estimable a community should be in any manner wounded.

You will also be fully sensible of the debt which you owe to your revered leader, Sri Vijaydharmasuri whose decisive intervention in the matter has been at the cost of much personal trouble and exertion.

Again thanking you for your letter, and trusting that the members of the Jaina body may likewise be relieved of any difficulties which may exist elsewhere.

I beg to remain,
Dear sir
Yours very faithfully
Sd./- F. W. Thomas.
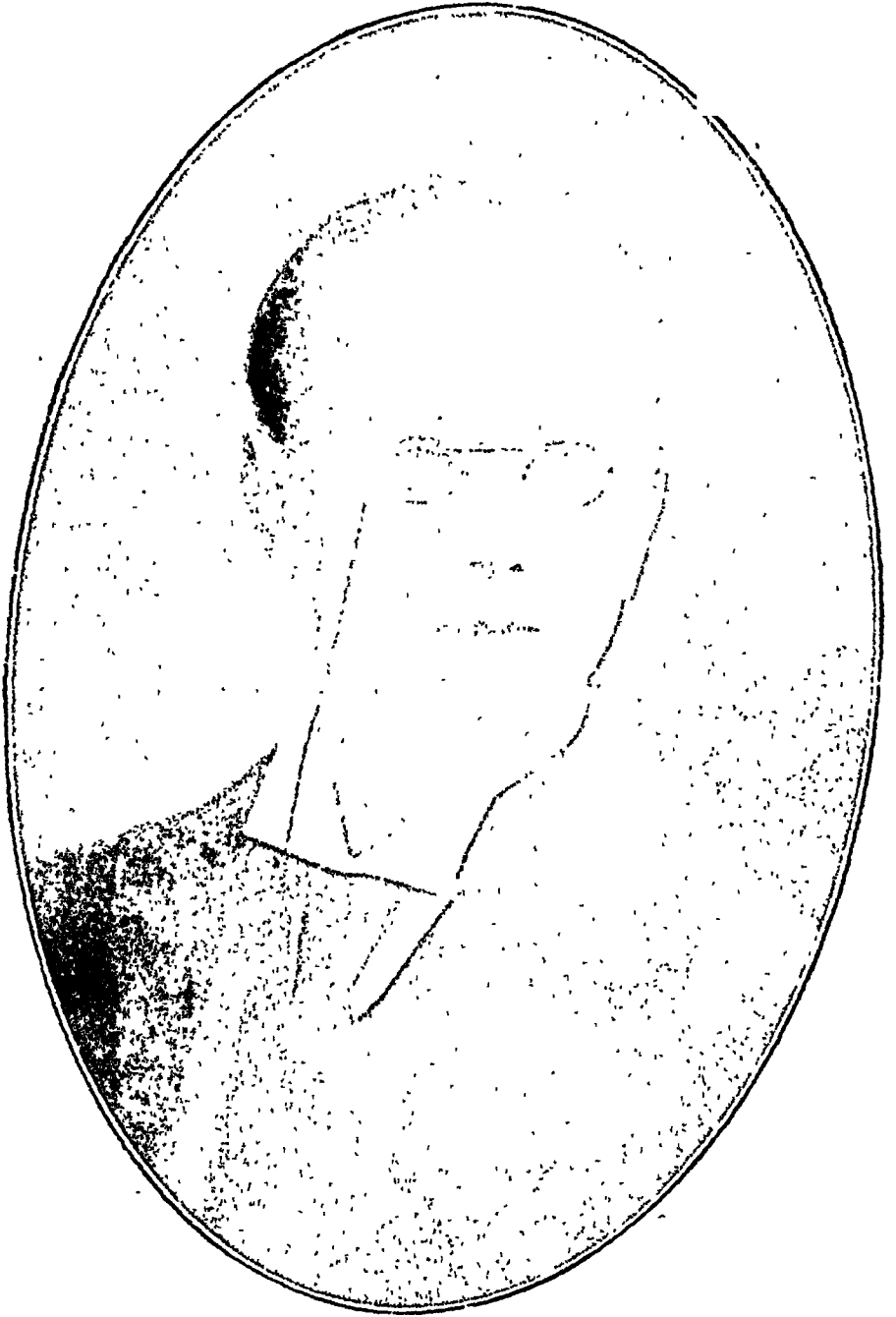
डॉ० एफ. डब्ल्यु. थोमस एम. ए; पीएच. डी. (चीफ लायब्रेरीयन इन्डीया ऑफीस-लंडन.)

"माऊन्ट आबू, देलवाडे के पवित्र स्थान की विझिट लेनेवाले मनुष्यों के प्रवेश करने के विषय में जो लिखा गया है, उस आपके कदर-करनेवाले पत्र के लिये, आप कृपा कर मेरे अंतःकरण के आभारों को स्वीकार करें। आपके धर्म के विषय में जो दुःख और अपमान होता था, उसमें से आपकी समाज मुक्त हुई, इसको देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। और मैं आपके संतोष में सहमत होता हूँ। वास्तव में आपने, इलीयट काल्विन, कि, जिन्होंने इस विषय में प्रेमयुक्त विचार प्रदर्शित किये थे, उनके प्रति आपके आभार प्रदर्शित किये हैं। मुझे विश्वास है कि भारतवर्ष में रहते हुए समस्त अंगरेज, ऐसी प्रतिष्ठित समाज के अंतःकरण किसी प्रकार दुःखी हों, इसके लिये अप्रसन्न ही होंगे।

आपके पूज्यगुरु श्रीविजयधर्मसूरि ने, कि जिन्होंने इसके निपटाने के लिये जो शारीरिक कष्ट उठाया है, और उद्योग किया है, उनके आप कितने ऋणी हुए हैं, इसको अच्छी तरह जानते होंगे।

पुनः मैं आपका, आपके पत्र के लिये, आभार मानता हूँ। और आशा रखता हूँ कि–जैनसमाज के मनुष्य, अन्य मुश्किलातें, कि जो किसी भी स्थान में आ पड़ें, उनमें से मुक्त हों।"

डॉ० थोमस साहब के उपर्युक्त पत्र से हम सम्यक्रीत्या जान सकते हैं कि, वे जैनसमाज और जैनधर्म के प्रति कितना प्रेम रखते हैं

ब्यावर में चातुर्मास करके ब्यावर के जैनों को ही नहीं, परन्तु समस्त प्रजा को आपने जो लाभ दिया था, इससे अपनी कृतज्ञता को प्रकट करने के लिये यहां के अग्रगण्य महता चिमनसिंघजी, श्रीमान् सेठ दामोदरदासजी राठी, श्रीमान् रामस्वरूपजी, श्रीयुत लक्ष्मीनारायण वकील बी० ए० एल एल० बी०, नवरंग शर्मा म्युनिसिपल कमिश्नर, चिमनलाल भार्गव मंत्री सनातनधर्म सभा, व्यास पूनमचन्द वैद्य, श्रीयुत भगवानदासजी ओझा, रामकर्णजी अग्रवाल, बद्रीदत्तजी हेडा मंत्री महेश्वर सभा, कन्हैयालाल अग्रवाल सभापति अग्रवाल सभा, नगरसेठ उदयमलजी शाह और धूलचन्दजी कांकरिया वगैरह ने एक बड़ी विराट् सभा करके आपको

अभिनंदनपत्र

दिया था, जिसमें आपके उपकारों का अच्छी तरह वर्णन किया गया था। तदनन्तर ब्यावर से आप ने मार्गशीर्ष सुदि ७ [दूसरी] के दिन विहार किया। यहाँ से सोजत, विलाडा वगैरह छोटे बडे गाँवों में बिहार करते हुए और लोगों को उपदेश देते हुए आपका

जोधपुर

में आना हुआ। जोधपुर मारवाड़ का प्रधान स्थान है। यहां आप ने कई पब्लिक व्याख्यान दिये। प्रत्येक सभा में तीन तीन चार चार हजार आदमी व्याख्यान श्रवण करने का लाभ उठाते थे। सिवाय इसके, हमेशा प्रातःकाल से १० बजे तक जैनउपाश्रय में भी आपका व्याख्यान होता था। इसके उपरान्त दुपहर के समय **महाराजा फतहसिंहजी, रायबहादुर पंडित श्यामविहारीलालजी** वगैरह अधिकारी एवं शहर के अन्यान्य बडे बडे जो प्रतिष्ठित महानुभाव आपके दर्शनार्थ आते थे, और **'जगत् कर्त्ता ईश्वर है या नहीं ?' 'आत्मा क्या वस्तु है ?' 'मुक्ति किसे कहते हैं और वह कैसे हो सकती है ?'** इत्यादि विषयों में वार्तालाप करते थे। उन सभी को शान्ति और गंभीरता के साथ आप समझाते थे। यहां आपके उपदेश के प्रभाव से कई राजपूत क्षत्रियपुत्रों ने शिकार करना और कई मांसाहारियों ने मांस खाना छोड़ दिया था। आप ने यहां एक दिन **'रात्रिभोजन'** के विषय में भी पब्लिक व्याख्यान दिया था। जिसमें व्यवहार, शारीरिक नियम और धार्मिक आज्ञाओं के अनुसार रात्रिभोजन नहीं करने के लिये ऐसा प्रतिपादन किया कि जिससे सैकडों मनुष्यों ने उसी दिन से रात्रिभोजन करना छोड दिया। **महाराजा फतहसिंहजी** ने एक दिन आपको अपनी रावठी में पधारने के लिये विनति की थी। आचार्य महाराजश्री वहां पधारे, और **महाराजा फतहसिंहजी**, उनके पुत्र **समर्थसिंहजी, इंद्रसिंहजी** एवं उनके सारे कुटुंब को भी धर्मोपदेश सुनाया। **'धर्मोपदेश सुनाने के लिये किसी भी स्थान में जाने के लिये संकोच नहीं करना चाहिये।'** इस सिद्धान्त का यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है। इनके सिवाय ठाकुर हेमसिंहजी,

ठाकुर इन्द्रसिंहजी, ठाकुर केशरीसिंहजी और कुँवर सुखसिंहजी वगैरह भी आपके अनुरागी हुए थे।

जोधपुर में कबूतरों की हिंसा बहुत होती थी। इस बात को स्मरण में रख करके, आपने एक व्याख्यान में, यहाँ की कौंसिल के मेम्बरों को जोर देकर अनुरोध किया कि–'इस हिंसा को बन्द करवा देना चाहिये।' उसी दिन कौंसिल की मीटिंग में यह प्रस्ताव उपस्थित हुआ और सर्व सम्मति से यह आर्डर प्रकाशित किया गया कि '**कोई भी मनुष्य कबूतरों को न मारे।**' आपने यहाँ भी

राजपूताना के एजंट टू दी गवर्नर जनरल से मुलाकात

की। आबू के कार्य में सफलता प्राप्त होने के पश्चात् यह प्रथम ही मुलाकात थी। इसलिये, आचार्य महाराजश्रीने सर कालिवन साहब के प्रति अपना संतोष जाहिर किया और सर कालिवन साहेब ने भी नम्रशब्दों में अपनी सज्जनता प्रकट की।

जोधपुर में आप के उपदेश से एक और भी बड़े भारी महत्व का कार्य हुआ। वह है

जैनसाहित्य सम्मेलन

का। सन् १९१४ के मार्च महीने की ता-३-४-५ के दिनों में जैनसाहित्य सम्मेलन का जो प्रथम अधिवेशन जोधपुर में हुआ था, वह आप ही के प्रयत्न और परिश्रम का फल था। अर्थात् इसका सर्वाधिकश्रेय आप को ही है। इस सम्मेलन के पेट्रन हुए थे **राजपूताना के एजंट टू दी गवर्नर जनरल सर इ० जी० कालिवन सांहब।** और प्रसिडेन्ट **महामहोपाध्याय डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी एच. डी प्रिन्सीपल संस्कृत कालेज कलकत्ता।** जोधपुरराज्य की समस्त सहायता से दशहजार मनुष्यों के बैठने योग्य एक दलबादल खड़ा किया गया था। करीब एक हजार डेलीगेट्स और दर्शक बाहर के आए थे। प्रतिदिन सभा में आठ से दसहजार मनुष्य एकत्रित होते थे। इस सम्मेलन में जैनसाहित्य की उन्नति के कई विद्वानों ने महत्व पूर्ण लेख उपस्थित किये थे, एवं अच्छे २ प्रस्ताव भी पास हुए थे। सिवाय इसके प्रसिद्ध वक्ताओं के व्याख्यान भी हुए थे।

सभा में उपस्थित मनुष्यों के आग्रह से आचार्य महाराजश्री भी सभा के कार्य की पूर्णाहुति में प्रतिदिन प्रभावशाली व्याख्यान देते थे। इसके उपरान्त सब लोगों की विनति से सम्मेलन का कार्य समाप्त होने के पश्चात् चौथे दिन इसी पंडाल में आपका 'मुक्ति' विषय में स्वतंत्र व्याख्यान हुआ था। उसमें भी उतने ही मनुष्यों ने लाभ लिया था, जितने सम्मेलन के अधिवेशन में लेते थे। इस **जैनसाहित्यसम्मेलन** का सम्पूर्ण कार्यविवरण **भावनगर** की **श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला** की तर्फ से **अभयचन्द्र भगवानदास गांधी** ने प्रकाशित किया है। इस विवरण के देखने से इस का पूरा हाल मालूम हो सकता है। इसी सम्मेलन के समय पर यहां के जैनगृहस्थों ने एक बड़ा भारी उत्सव भी किया था, जिसमें **गिरिनारादि** कई पहाड़ों की मनोहर रचना भी की गई थी।

डॉ० हर्मन जेकोबी

भी आपको यहां ही मिलने के लिये आए थे। यद्यपि, आचार्यश्री जिस समय **सोजत** में थे, उस समय डॉ० जेकोबी ने आपको मिलने के लिये अपना विचार प्रकट किया था। उनके आने के समय सोजत में **जैनसाहित्य सम्मेलन** किया जाय, ऐसा विचार करके वहां के संघ से निश्चय भी करवाया था, बल्कि सम्मेलन की मेनेजिंग कमेटी ने कार्यारंभ भी कर दिया था। परन्तु सोजत छोटा गाँव एवं स्टेशन दूर होने के कारण, जैसी चाहिये वैसी सफलता नहीं प्राप्त होगी, इस विचार से एवं **जोधपुर** के जैनसंघ का आग्रह **जोधपुर** में ही करने के लिये होने से सम्मेलन का अधिवेशन जोधपुर में ही करने का निश्चय किया गया, और डॉ० जेकोबी को भी जोधपुर में ही मिलने के लिये सूचना दी गई। डॉ० जेकोबी सम्मेलन के अधिवेशन पर ही आ पहुँचे थे। इन्होंने भी सम्मेलन के अधिवेशन में एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया था, जो कि रिपोर्ट में छपा है। डॉ० जेकोबी का यह अभिप्राय था कि— 'जैनसूत्रों में मूर्त्तिपूजा के पाठ नहीं हैं।' परन्तु आचार्यश्री ने जैनसूत्रों के पाठ दिखला कर यह निश्चय कराया कि—' जैनसूत्रों में मूर्त्तिपूजा के पाठ अवश्य हैं।' यह बात आप ने अपने व्याख्यान में भी स्वीकार की

है। इसके सिवाय डॉ० जेकोबी ने आचारांगसूत्र के भाषान्तर में 'मांस' के विषय में जो भूल की थी, उसके विषय में भी कई शास्त्रीय प्रमाणों को दिखला कर उनसे यह स्वीकार करवाया कि-'दूसरी आवृत्ति में इसका सुधार हो जायगा।' डा० जेकोबी यहां आपके समागम में छे सात दिन रहे। और कर्मग्रन्थादि जिन जिन विषयों में उनको शंकाएं थीं, वे सभी बातें आपसे समझ लीं। पश्चात् वे आबू की ओर रवाना हो गए थे। जोधपुर के जैनसंघ ने डॉ० जेकोबी को एक 'मानपत्र' भी दिया था। जिसमें उन्होंने जैनसाहित्य की जो सेवा की थी, उसका उल्लेख करके कृतज्ञता जाहिर की थी।

जोधपुर में सर्व प्रकार की सफलता प्राप्त करके आप

ओसियां

पधारे थे। ओसीयां एक जैन तीर्थ है। इसी ओसियां से ओसवालों की उत्पत्ति हुई है। उपकेश गच्छीय रत्नप्रभसूरि, जो कि वीरनिर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् हुए हैं, उन्हों ने यहां के क्षत्रियों को ओसवाल बनाए थे। महावीरस्वामी का यहां दर्शनीय मंदिर है। यद्यपि इस समय यह नगर उजड सा है, परन्तु इसके प्राचीनता के चिह्न-खण्डहर वगैरह बहुत दृष्टिगोचर होते हैं। यहां से विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभ से लेख मिलते हैं। जैसे एक लेख वि० सं० १०१७ का प्रतिहार वत्सराज के समय का मिला है। इस लेख में इसका नाम 'ऊकेशपुर' लिखा है। दूसरा एक लेख वि० सं० १०९३ का, जो मंदिर की दीवार में लगा हुआ है, पाया जाता है। इसमें नगर का नाम ऊकेश लिखा है। इन दोनों लेखों से भी एक प्राचीन लेख, जो सं० १०११ चैत्र सुदि ६ का भी मिला है। यह लेख, महावीरस्वामी के मंदिर के पास में धर्मशाला की नींव खोदते हुए एक पार्श्वनाथ की मूर्त्ति निकली थी, उसके परिकर के पिछले भाग में है। इन लेखों से यह अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि-इसके पहिले भी यहां अवश्य मंदिर था।

आपने यहां तीर्थयात्रा के उपरान्त कई प्राचीन स्थानों का निरीक्षण भी किया। इसके सिवाय यहां की एक देवी के सामने जीवहिंसा

होती थी, उसको भी यहां के दरबार से मिलकर बंद करवा दिया। पश्चात् आप यहां से जोधपुर आए, जोधपुर में महावीरजयन्ती का उत्सव करा करके आपने विहार किया। और बिलावास, लूणी, रोहट और खारचा वगैरह गावों में उपदेश देते हुए

पाली

पधारे। पाली में आप का बहुत अच्छा सत्कार हुआ। यहां आपने दो तीन पब्लिक व्याख्यान भी दिये। यहां के अधिकारियों को आपके व्याख्यानों से बहुत प्रसन्नता हुई। यहां श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजकों के उपरान्त स्थानकवासी और तेरापंथियों के भी घर हैं। यह तेरापंथियों का मत संवत् १८१८ में स्थानकवासियों में से निकला है। ये तेरापंथी लोग मूर्त्तिपूजा को नहीं मानने के उपरान्त दया और दान का भी निषेध करते हैं। अर्थात् तेरापंथी के साधु-साध्वियों के सिवाय और किसी को दान नहीं देना; एवं किसी भी दुःखी प्राणी को नहीं बचाना, यह इनका सिद्धान्त है। दुःखी अथवा मरते हुए प्राणी को बचाने में वे पाप ही समझते हैं। इस मजहब के अनुयायी चार-पांच गृहस्थों ने आप के पास आ करके चार दिनों तक

चर्चा

की। आपने शास्त्रीय और व्यावहारिक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि मूर्त्तिपूजा और दया-दान करना मनुष्यमात्र का धर्म है। इस चर्चा में पाली के सुप्रसिद्ध पंडित परमानंद जी मध्यस्थ किये गये। पंडित जी ने मध्यस्थता से इस चर्चा को सुन कर तेरापंथियों की निरुत्तरता और अविवेकता के प्रति घृणा प्रकट की। जब तेरापंथियों की वाक्-चर्चा में एक भी न चली, तब उन्होंने लिख करके तेईस प्रश्न पूछे। इन तेईस प्रश्नों के उत्तर में आचार्य महाराजश्री की आज्ञानुसार तेरापंथमतसमीक्षा नामक एक पुस्तक लिखने का सौभाग्य मुझ को ही प्राप्त हुआ था। और इसको भावनगर की यशोविजयग्रन्थमाला ने प्रकाशित किया था। जिसका उन लोगों ने कुछ भी जवाब नहीं दिया।

पाली में चांदमलजी छाजेड और तेजमलजी इन दोनों धर्मप्रिय

आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि

और

डॉ० एल. पी. टेसेटोरी एम्. ए; पीएच् डी.

और शासनप्रेमी महानुभावों ने एवं समस्त श्रीसंघने आपकी सेवा, भक्ति का अच्छा लाभ लिया।

पाली से छोटे मोटे गाँवों में होते हुए आप

शिवगंज

पधारे। शिवगंज छोटा परन्तु हवा-पानी के लिये मुवाफिक और अनुकूल स्थान है। यद्यपि यहाँ से विहार करके शीघ्र आबू होकर गुजरात में जाने का आप का इरादा था। परन्तु यहाँ के भावी जैनों की साग्रह विनति से आपने यहाँ ही स्थिरता की। और चातुर्मास भी यहाँ ही किया। इस वर्ष में आपने अपने सब शिष्यों को साथ में न रखकर के सादड़ी, खीवाणदी, बाली वगैरह भिन्न भिन्न स्थानों में चातुर्मास करने की आज्ञाएं की थीं। अपने साथ तो केवल ४-५ साधु ही रक्खे थे। यह गाँव छोटा और साधारण होने से यहाँ कोई विशेष महत्त्व का कार्य नहीं हुआ। इस चातुर्मास में आपने विशेषावश्यकादि सैद्धान्तिक ग्रंथ अपने शिष्यों को पढ़ाने में ही विशेष समय व्यतीत किया।

डॉ. एल. पी. टेसीटोरी

जो कि, एक इटालीयन विद्वान् हैं, वे इसी चातुर्मास में आचार्य महाराजश्री से प्रथम ही मिलने के लिये आए। इस यूरोपियन विद्वान् का यहाँ के जैनों ने बहुत अच्छा स्वागत किया था। डा० टेसीटोरी साहब यहाँ आचार्य्य महाराजश्री के समागम में तीन दिन रहे। आपने यहाँ की सभा में हिन्दीभाषा में महत्त्व पूर्ण व्याख्यान दिया। और 'उपदेशमाला' वगैरह कई विषयों में आप को जो जो शंकाएं थीं, उनका भी आचार्यश्री से समाधान कर लिया। आप यहाँ से खीवाणदी, जहाँ कि उपाध्यायजी श्रीइन्द्रविजयजी महाराज चातुर्मास रहे थे, भी गये। वहाँ उपाध्यायजी के साथ इतिहास विषयक विचारों की बहुत लेन देन की। इसके सिवाय उपाध्यायजी की अध्यक्षता में एक व्याख्यान भी दिया। खीवाणदी छोटा गाँव होने पर भी यहाँ के सेठ कपूरचन्दजी, कस्तूरचन्दजी, रामचन्दजी वगैरह ने साहब का बहुत अच्छा स्वागत और सत्कार किया। तत्पश्चात् शिवगंज आकर के साहब विदा हो गये।

शिवगंज में श्रावक जसराजजी कृष्णाजी ने एक उत्सव भी किया था। जिसमें शत्रुञ्जय, गिरिनार वगैरह पहाडों की दर्शनीय रचना की गई थी। इस रचना को देखने के लिये गोड़वाड के अन्यान्य गाँवों के लोग भी आते थे। आपके उपदेश से यहाँ एक जैनलायब्रेरी की भी स्थापना हुई थी। इस लायब्रेरी के स्थापन करने के समय यहाँ के तहसीलदार और अन्यान्य गृहस्थों ने इस लायब्रेरी के साथ आपका नाम जोडने के लिये बहुत आग्रह किया था। परन्तु आपने इस बात को बिलकुल पसंद नहीं किया और यही कहाः—"**इस लायब्रेरी के साथ मेरा नाम जोड़ देने से मुझको जो प्रसन्नता होगी; उससे कई गुनी प्रसन्नता मेरा नाम नहीं जोड़ करके इस लायब्रेरी को अच्छी तरह से चलाने में होगी।**" निदान आपने अपना नाम नहीं जोडने दिया और सामान्य '**जैनलायब्रेरी**' ऐसा नाम रखवाया। इस लायब्रेरी में ही क्यों ? आपके उपदेश से आज पर्यन्त जितनी संस्थाएं स्थापित हुई हैं, उन में कहीं भी आपने अपना नाम नहीं जोडने दिया। आपकी निःपृहता और निरीहता का यह ज्वलंत उदाहरण है। हम जब संसार के-खास करके हमारी जैनसंप्रदाय के त्यागी महात्माओं की प्रवृत्ति की ओर जरा दृष्टिपात करते हैं, तब सचमुच हमें खेद के सिवाय और कुछ नहीं होता। जहाँ देखो वहाँ नाम का ही झमेला देखने में आता है। फिर चाहे कार्य कैसा ही छोटा क्यों न हो। अस्तु, इस विषय में हम विशेष आलोचना करना नहीं चाहते।

चातुर्मास के समाप्त होने के पश्चात् आपने मारवाड की बडी

पंचतीर्थी की यात्रा

करने का बिचार किया। और इसलिये आपने आबू की ओर बिहार नहीं करते हुए पंचतीर्थी की यात्रा निमित्त विहार किया। इस विहार में विसलपुर, पेरवा, वाली, सेसली, लुणावा, बोहा, खुडाला, खीमेल, राणीगाम, राणीस्टेशन, वरकाणा, बिझोवा, नाडोल, नालडा, जावाली, इंटदरा, दुठारिया, धारिया, केनपुरा, दाधाई, ढालोप, नाडलाई, देसूरी, घाणेराव, सादरी, राणकपुर और मुडारा वगैरह छोटे बडे समस्त गाँवों के लोगों को आपकी पवित्रवाणी का लाभ मिला। आपने इस भूमि के

लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये जो परिश्रम उठाया, वह अकथनीय है। इस भूमी में बिचरते हुए यद्यपि आप को अनेकों तकलीफें उठानी पडती थीं, परन्तु इस प्रकाशमय जमाने में भी प्रायः सर्वथा अंधकार में रहे हुए इस देश के मनुष्यों को प्रकाश में लाने की आपकी भावना ने उन तकलीफों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देने दिया। आप बडे बडे गाँवों में तो दिन में तीन तीन समय व्याख्यान देते थे। आप ने अपने अविश्रान्त परिश्रम से उपर्युक्त गाँवों में बहुत सुधार किये। **वीसलपुर** के ठाकुर **किशोरसिंहजी** और **पेरवा** के ठाकुर ने आप के उपदेश से कई जाति के पशु और पक्षियों के शिकार नहीं करने का नियम लिया। **खीमेल के जागीरदार** ने मांसाहार करना सर्वथा छोड दिया। **खीमेल, नाडोल, विझोवा** और **मुडारा** वगैरह जिन गाँवों में वर्षों से कुसंप ने घर किया था, वह भी आपके उपदेश से दूर हुआ। जिन जिन गाँवों में पाठशालाएं नहीं थीं, वहाँ स्थापित करवाई और जहाँ जहाँ पाठशालाएं शिथिल हो गई थीं, वहाँ वहाँ अच्छा फंड करवा करके उन पाठशालाओं को दृढ करवा दिया। इसके सिवाय प्राचीन स्थानों का निरीक्षण और प्राचीन मूर्त्तियों पर के लेखों का संग्रह करना, इस कर्त्तव्य को भी आप ने प्रधानतया लक्ष्य में ही रक्खा। जिस समय आप **वरकाणाजी** पधारे थे, उस समय इसके आस पास के करीब ८ से १० हजार मनुष्य इकट्ठे हुए थे। क्योंकि **वरकाणा** तीर्थ होने से यहाँ जंगम और स्थावर—दोनों प्रकार के तीर्थों की यात्रा का लाभ मिलने का था। आपने भी इस प्रसंग पर दो व्याख्यान देकर ज्ञातिसुधार के कई प्रस्ताव पास करवाये। जब आप **सादड़ी** में थे, उन दिनों में **डा० एल० पी० टेसीटोरी** भी आपके दर्शनार्थ आए थे। डा० टेसीटोरी आचार्यमहाराज श्रीके साथ पैदल ही चलकर के **राणकपुर** पधारे थे। राणकपुर एक प्राचीन तीर्थ स्थान होने से वहाँ के कई दर्शनीय स्थानों का आपने निरीक्षण भी किया था।

गोड़वाड के उपर्युक्त गाँवों में **वरकाणा, नाडोल, घाणेराव नाडलाई** और **राणकपुर** इन पांचों को बड़ी पंचतीर्थी कहते हैं। जिसकी यात्रा खास करके करने योग्य है।

उदयपुर में चातुर्मास

'मनुष्य सोचता है क्या, और होता है क्या ?' इसके रहस्य-सागर में जब हम गोता लगाते हैं, तब हमें इसकी थाह नहीं मिलती। हम नहीं समझ सकते कि-यह कितना गहरा है ?। हमें इस बात का अच्छी तरह स्मरण है कि- जब हमारे चरित्रनायकजी ने काशी को छोडा था, तब आप की यही भावना थी और काशी के सज्जनों ने भी यही अनुरोध किया था, कि दो वर्ष पर्यटन करके पुनः काशी में आवें। परन्तु यह होना किसके हाथ में था ?। काशी को छोडने के पश्चात् तीन चातुर्मास तो होही चुके। लेकिन अब आप ने विचार किया कि-जब यहाँ तक आए हैं, तो केशरीयाजी की यात्रा करके ही गुजरात में जाँय'। आप ने इस विचार को पक्का कर लिया और भाणपुरे की नाल से पहाड का रास्ता उल्लंघन करके भाणपुरा, सांयरा, ढोल, गोगुंद वगैरह गाँवों में होते हुए आप उदयपुर पधारे। उदयपुर के श्रीसंघ ने महाराणा साहब उदयपुर के हाथी, घोडे वगैरह बडी धूमधाम के साथ आपका स्वागत किया। उदयपुर में आपने कुछ दिनों की स्थिरता की। और पब्लिक व्याख्यानों से यहाँ की समस्त प्रजा को अच्छा लाभ दिया। आप के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानों ने यहाँ की प्रजा को मोहित कर दिया। और इससे यहाँ के जैनगृहस्थों के उपरान्त जैनेतर लोगों ने भी यहाँ ही चातुर्मास रहने के लिये बहुत आग्रह किया। परन्तु आप का लक्ष्य अभी कहीं औरही लगा था। निदान, आपने बिहारही किया और केशरीयाजी पधारे। केशरीयाजी को धुलेवा भी कहते हैं। यह जैनों का बड़ा भारी प्रसिद्ध तीर्थ है। उदयपुर के कई गृहस्थ भी आप के साथ यात्रा के निमित्त आए। आपने यहाँ कुछ दिनों की स्थिता की और यात्रा भी की। पश्चात् ज्योंही आप यहाँ से गुजरात की ओर विहार करने की तैय्यारी करने लगे, त्योंही उदयपुर के दो सौ से ढाई सौ गृहस्थ आप को उदयपुर ले जाने के लिये विनति करने को आ पहुंचे। इन्होंने आ करके उदयपुर पधारने के लिये बहुत आग्रह किया। इस

समय आपके साथ सोलह साधु थे। सभी का इरादा गुजरात में ही जाने का था। आचार्य महाराजश्री ने गुजरात में जाने के बहुत कुछ कारण दिखलाये, और उदयपुर के संघ को समझाया, परन्तु उन्होंने एक न मानी। इस समय उदयपुरसंघ के अग्रगण्य शासनप्रेमी सेठ मगनलाल जी पुंजावत और अन्यान्य गृहस्थोंने आपको सविनय विनति करने में जो अपनी शासनप्रियता दिखलाई, उसको स्मरण करते हुए आज भी हमारे रोमाञ्च खड़े होते हैं। परिणाम यह हुआ कि—यद्यपि आपकी तीव्र इच्छा गुजरात में ही जाने की थी, तथापि आपने, उदयपुर के संघकी विनति का स्वीकार ही कर लिया और अपने आठ शिष्यों को गुजरात में जाने की आज्ञा दी। आपने उदयपुर की ओर पुनः प्रयाण किया और चैत्र शुक्ला द्वीतिया के दिन उदयपुर में प्रवेश किया। इस समय भी उदयपुर के संघने आपका अच्छा स्वागत किया।

उदयपुर में आपके विराजने से बड़े महत्व के कई कार्य हुए। आप प्रतिदिन प्रातःकाल ८ से १० बजे तक व्याख्यान करते थे; जिसमें सभी धर्मों के अनुयायी लाभ लेते थे। आपकी असाधारण व्याख्यान पद्धतिने उदयपुर की समस्त प्रजा के चित्तों को आकर्षित कर लिया। और इसी का यह परिणाम था कि—यहाँ आपके जितने पब्लिक व्याख्यान हुए, वे सभी प्रायः यहाँ की 'सनातनधर्मसभा' की तर्फ से ही हुए। सनातनधर्मसभा के अध्यक्ष महन्तजी माधवदास भी सभाओं में पधारते थे। आपका यह चातुर्मास खास करके कसौटी का था। क्योंकि जिस धर्म के आप आचार्य थे, उसी के विरुद्ध संप्रदाय-ढूंढिये और तेरापंथी के आचार्यों का भी यहाँ ही चातुर्मास था। ये भी अपने अपने स्थानों में व्याख्यान करते थे। सिवाय इनके गोवर्धनमठ के शंकराचार्यजी का भी चातुर्मास यहाँ ही था। इस तरह चार आचार्यों के रहने से उदयपुर की कीर्त्तिलता चारों ओर फैल रही थी। हमारे चरित्रनायकजी की रोचक व्याख्यानशैली से उदयपुर के आबाल गोपाल समस्त मनुष्य आपकी तारीफ करते थे। हजारों मनुष्य आपके व्याख्यानों में सम्मिलित होते थे। यावत् राज्य दरबार में भी आपकी विद्वत्ता, प्रभावकता और उदार विचारों की प्रशंसा होने लगी।

थी। इन सब कार्यों से तेरापंथी और ढूंढक साधुओं को ईर्ष्या होने लगी, इतना ही नहीं, परन्तु उन्होंने अपने अपने व्याख्यानों में आपके पब्लिक व्याख्यानादि कार्यों पर आक्षेप करने भी प्रारंभ कर दिये। 'जाहिर व्याख्यान करना क्या साधुओं का धर्म है ?' 'उपाश्रय को छोड कर अन्यस्थानों में व्याख्यान देने के लिये जाने का कहाँ लिखा है ?' 'मूर्त्ति पूजा का प्रतिपादन जैनसूत्रों में कहाँ किया गया है ?' 'वे लोग मूँह पर कपडा क्यों नहीं बांधते ?' इनके उपरान्त तेरापंथी तो यह भी कहने लगे कि, 'जीवों की रक्षा करना, मरते हुए जीवों को बचाना और परोपकार करना, यह सब जैनसूत्रों में कहीं नहीं लिखा"। इत्यादि बातें अपने अपने व्याख्यानों में छेडने लगे। इतना ही नहीं, परन्तु धीरे धीरे वे अपने अपने भक्तों को आचार्यश्री के साथ

चर्चा

करने को भी भेजने लगे। आचार्यश्रीके पास जो आता था, उसको जैनसूत्रों के पाठ और युक्तियों द्वारा उपर्युक्त बातों को सिद्ध कर दिखलाते थे, जिससे चर्चा करनेके लिये आनेवाला लट्टू ही होकरके जाता था। आचार्यश्री ने तो तेरापंथी और ढूंढक आचार्यों को दो तीन दफे यह भी कहला भेजा कि—"यदि आप लोग चर्चा करने को चाहते हैं तो, आप हमारे उपाश्रय में पधारें। दो चार मध्यस्थों को रख करके आपस में चर्चा हो जाय, और मैं परास्त हो जाऊंगा तो आप के मजहब को स्वीकार करने के लिये तय्यार हूँ। और यदि आप को यहाँ आना मंजूर न हो, तो मैं आप के स्थानक में आने के लिये तय्यार हूँ।"

शास्त्रों की गन्ध को नहीं जाननेवाले इस बात को कैसे स्वीकार कर सकते थे ! । हम इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि—हमारे चरित्रनायकजी इस जमाने को सम्यक्रीत्या पहचानते हैं। आप शान्ति के साम्राज्य को चाहनेवाले हैं। आप अपने उपदेश में भी निषेधकशैली को कभी स्थान नहीं देते। इस अवस्था में आप, आपस में चर्चा करके समाज में अशान्ति फैलाने के कारणों को उपस्थित करें, यह कभी नहीं हो सकता। परन्तु, जब प्रतिपक्षियोंकी तर्फ से

बार बार इस बात की छेड़ छाड़ होने लगी, तब आपने उनका उत्तर देना, यह अपना कर्त्तव्य समझा । धीरे धीरे इसका परिणाम यह हुआ कि—तीनों पक्ष के श्रावकों के आपस में नोटिसबाजी की नौबत आगई । यहाँ तक कि, कभी कभी तो एक एक दिन में दो दो तीन तीन पेम्फ्लेट भी निकलने लगे । जब आप के पास बहुत बहुत तेरापंथी और ढूंढिये चर्चा करने को आने जाने लगे, और इधर नोटिसबाजी भी खूब चली, तब, आपने उदयपुर के बड़े बड़े अग्रगण्य महानुभावों के आग्रह से 'मूर्त्तिपूजा' तथा 'दया और दान' के विषय में तीन दिनों तक 'महाराणा हाईस्कूल' और 'सनातनधर्मसभा' के विशाल मंडप में बड़े समारोह के साथ व्याख्यान दिये । इस समय 'जैनसूत्र' और 'अन्यान्यग्रंथों' में से उपर्युक्त बातों के प्रमाण स्पष्टरीत्या दिखला दिये । साथही साथ प्रत्येक दिन के व्याख्यान की पूर्णाहुति में यह चेलेंज भी दिया जाता था कि—"अगर किसी को भी इस विषय में कुछ पूछने की इच्छा हो, तो वे निःसंकोच भाव से पूछ सकते हैं ।" सभाओं में सैकड़ों तेरापंथी और स्थानकवासी आते थे, परन्तु कोई एक भी प्रश्न नहीं कर सकता था । क्योंकि आप अपने व्याख्यानों में एक एक विषय को ऐसा पुष्ट करते थे, कि—जिसपर किसी को कुछ वक्तव्य रहता ही नहीं था । तेरापंथियों ने आपकी प्रभावकता पर ईर्ष्या करने में बाकी नहीं रक्खी । यहाँ तक कि आपके व्याख्यानों को बन्द करवाने का हर तरह से प्रयत्न भी कर चुके थे । परन्तु वे अपने प्रयत्नों में निष्फलता के सिवाय और कुछ नहीं पासके * । अस्तु ।

आप एक दफे बाहर ठंडिल (जंगल) जारहे थे, वहाँ अकस्मात् स्थानकवासी के पूज्य श्रीलालजी से समागम हो गया । श्रीलालजी के साथ आपने बहुत कुछ बातचीत की । आपने कहाः—'धर्म के सिद्धान्तों को नहीं समझने वाले श्रावक लोग आपस आपस में व्यर्थ झगड़े कर

* तेरापंथी मत के अिद्दय सिद्धान्तों और उसके युक्ति पूर्वक किये हुए प्रतिवादके पढ़ने की इच्छा होवे, उन्हें, भावनगर की यशोविजय जैनग्रंथमाला से 'तेरापंथ-मत-समीक्षा', 'तेरापंथी-हितशिक्षा' और शिक्षाशतक' इन तीनों पुस्तकों को मंगवा कर देखनी चाहियें ।

रहे हैं, अगर किसी दो विद्वानों को मध्यस्थ रख करके आप और हम आपस में विचार कर एक निश्चय करलें, तो समाज में शान्ति फैल जायगी।' अपने प्रतिस्पर्द्धि के साथ इस प्रकार की सभ्यतापूर्वक बातें करने की उदारता पर कौन मनुष्य मुग्ध नहीं होगा ! । श्रीलालजी ने इस बात का स्वीकार नहीं किया। उन्होंने यह अवश्य कहा कि-'आप अपने शिष्यों को कभी हमारे स्थानक में भेजेंगे, तो अवश्य धर्म चर्चा करेंगे।' आचार्यश्रीने कहा 'बहुत अच्छा'। इन बातों के उपरान्त आचार्यश्रीने श्रीलालजी से 'आप दंड क्यों नहीं रखते ?' 'सिरपर कंबल क्यों नहीं रखते' इत्यादि साधुके आचार विषयक कई एक प्रश्न पूछे। उन्होंने उन सभी बातों में अपना प्रमाद ही प्रकट किया।

कुछ दिनों के बाद आपने अपने दो शिष्यों—मुनि विद्याविजय और मुनि श्रीन्यायविजयजी को स्थानकवासी के पूज्य श्रीलालजी के स्थानक में भेजे। इन्होंने श्रीलालजी के साथ 'मूर्त्तिपूजा' 'मुहपत्ती' एवं अन्यान्य विषयों पर तीन साढ़े तीन घंटों तक चर्चा की। परन्तु श्रीलालजी ने एक भी प्रश्न का यथोचित उत्तर नहीं दिया। और हर एक बातों में टालमटोल ही कर दी। इस समय स्थानकवासी, तेरापंथी और मूर्त्तिपूजक-सब मिला कर करीब दोसौ ढाईसौ मनुष्य विद्यमान थे। अन्त में श्रीलालजी ने यह कह कर के चर्चा की 'इति श्री' करवाई कि—'अब गोचरी का समय हो गया है।' अस्तु।

दीक्षा

यहाँ आप के पास दो महानुभावों ने दीक्षा भी ली। इनमें एक तो वेही थे, जिन्होंने वर्षोंतक काशी की यशोविजय पाठशाला का विना वेतन कार्य किया था। और जिनका नाम था हर्षचन्द्र भूराभाई। दूसरे गृहस्थ थे अहमदावाद के। नवदीक्षितों के नाम मुनि जयन्तविजयजी और मुनि निधानविजयजी दिये गये थे। दीक्षा के निमित्त यहाँ के संघ ने उत्साह और भक्ति पूर्वक बड़े समारोह से उत्सव किया था। कहते हैं, ऐसा दीक्षोत्सव उदयपुर में पहिले कभी नहीं हुआ। इसी दीक्षोत्सव पर इटालीयन विद्वान्

डा० एल, पी. टेसीटोरी

भी आए थे। टेसीटोरी साहब, आर्यपद्धति के अनुसार दीक्षा लेने वालों को दीक्षा लेने के पहिले अपने उतारे में निमंत्रण कर ले गये, और तिलक करके एक एक सुवर्ण मुद्रिका भी दी थी। डाक्टर साहब ने दीक्षा की क्रिया का संपूर्णरीत्या निरीक्षण किया था। और इसी मंडप में, जिसमें दीक्षा दी गई थी, सात हजार मनुष्यों की सभा में एक प्रभावशाली व्याख्यान भी दिया था।

उदयपुर में आचार्य महाराजश्री की विद्वत्ता की तारीफ धीरे धीरे फैलने लग गयी। यहाँ तक कि-महाराणाजी साहब, उदयपुर के खास दरबार में भी इसकी चर्चा कभी कभी हुआ करती थी। आर्यकुलभूषण हिन्दुसूर्य महाराणा साहब श्रीफतहसिंहजी बहादुर, कि जो अपनी समस्त प्रजा के प्रति संपूर्ण दया की दृष्टि रखते हैं, वे भी कभी कभी अपनी सेवा में उपस्थित रहने वाले मनुष्यों से आप के व्याख्यानों की और अन्यान्य बातें भी पूछ लिया करते थे। किसी समय महाराणाजी साहब को अपने किसी अनुचर के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि 'जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरि, कि जो बड़े विद्वान् हैं, उनको 'शब्दार्थचिंतामणि' कोशकी, जो कहीं से नहीं मिलता है, बहुत आवश्यकता है। महाराणाजी साहब ने स्टेटप्रेस से कोश के चारों भाग मँगवा कर विद्वद्रत्न श्रीमान् फतहकरणजी के द्वारा आचार्यश्री के पास पहुँचवा दिये।

इस बहुमूल्य और अलभ्यकोश की प्राप्ति से और खास करके महाराणाजी साहब की इस उदारता से आचार्यश्री को बहुत प्रसन्नता हुई। और इस कोश की स्वीकृतिका आपने आश्विनवदि १३ के दिन पत्र भी लिखा। आपने इस पत्र में महाराणाजी साहब को अनेक धन्यवाद दिये। और साथ ही साथ एक और बात की भी भिक्षा मांगी। वह यह है:—

"आप जीवदया के पूर्ण प्रेमी और हिन्दू धर्म के सच्चे सूर्य हैं। जहाँ तक मैंने सुना है, आप मनुष्यों पर ही नहीं, मूक प्राणियों के ऊपर भी बहुत ही दया रखते हैं। उन जीवों की रक्षा करने के लिये आप हर-एक प्रकार से प्रयत्न भी करते हैं। और इसी प्रकार इसी गद्दी के पूर्व

पुरुषा भी करते आए हैं । आप के साथ हमारे जैनाचार्यों का जो घनिष्ठ संबन्ध चला आया है, यह आप को सुविदित ही है। हमारे जैनाचार्यों के वचनों को मान करके आपने जैनों के लिये बड़े बड़े कार्य कर दिये हैं । और करते आए हैं । मैं भी उन पूज्यपुरुषों का अनुचर आप की इस नगरी में आया हूं और मैं यह चाहता हूँ कि—आप की तर्फ़ से इन नवरात्रि के दिनों में पशुओं को अभयदान मिलना चाहिये ।

आप स्वयं ही जीवदयाप्रतिपालक और धर्म तत्त्व को जानने वाले होने से, मैं इस विषय में शास्त्रीय प्रमाणों को लिख करके आप का समय लेना नहीं चाहता । सिर्फ यही कहूंगा कि माता जगदंबा है । अर्थात् जगत् की माता है । इस लिये उन पशुओं की भी वह माता ही है । इस दृष्टि से भी उसके सामने, उसके पुत्रों का वध होना अनुचित ही गिना जा सकता है । माता जगद्रक्षिणी है । हम लोग भी माताओं का ' ॐ रोहिणी-प्रज्ञप्ति-वज्र-शृंखला-वज्राङ्कुशी-अप्रतिचक्रा-पुरुषदत्ता-काली-महाकाली-गौरी-गान्धारी-सर्वास्त्रामहाज्वाला-मानवी-वैरोट्या-अच्छुप्ता-मानसी-महामानसी षोडशविद्यादेव्यो रक्षन्तु वो नित्यं स्वाहा ' इस प्रकार जाप करते हैं । इन माताओं के सामने, नवरात्रि और दशहरे के दिनों में जो पशुवध होता है, वह आप जैसे दयाधर्मप्रतिपालक महाराणाजी साहब की तर्फ से बंद हो जाय, तो इसका असर अन्यप्रजा के ऊपर बहुत पड़ेगा । और इसका आप को जो लाभ होगा, यह तो केवली भगवान् ही कहने के लिये समर्थ हैं ।

मैं आशा करता हूं कि—आप मेरी इस भिक्षा को पूर्ण कर के पशुओं की रक्षा का महान् पुण्य प्राप्त करेंगे ।"

आचार्यश्री के इस महत्त्वपूर्ण पत्र के उत्तर में महाराणाजी साहब ने अपने दो हजूरियों—ठाकुर गंभीरसिंहजी और ठाकुर चंद्रसिंहजी के साथ यह शुभ समाचार कहला भेजा कि—'इस समय जितने पशुओं का वध होता है, उन में से बहुत कुछ कम करवा दिये जायेंगे । परन्तु धीरे धीरे यह भी कोशिश की जायगी, कि—यह सर्वथा बंद हो जाय ।' निदान, इस वर्ष में तो बहुत ही

लज्जास्थंभ हिन्दूसूर्य महाराजाधिराज महाराणा

श्रीफत्तेहसिंहजी साहेब वहादुर उदयपुर.

पशुओं का वध बन्द

करवा दिया। और प्रतिवर्ष के लिये नवरात्रि और दशहरे के दिनों में जो पशु वध होता था, उसमें से ७ भैंसे और १४ बकरों का वध बन्द करवा दिया॥

धीरे धीरे महाराणा साहब और आचार्यश्री का संबन्ध परोक्ष रीति से भी घनिष्ठ होता गया। यद्यपि इन बातों के प्रकट होने से तेरापंथी और स्थानकवासी आप से बहुत ईर्ष्या करने लगे थे। परन्तु इससे क्या होने का था?। आपको इस बात पर संपूर्ण विश्वास था और अब भी है कि—"जिस कार्य को हम शुभ भावना से करते हैं, उसमें कभी न कभी अवश्य सफलता प्राप्त होगी।' और हजारों शत्रुओं के होने पर भी अपने उदार आशयों से कभी विचलित नहीं होना चाहिये। परमात्मा महावीर जैसे वीरपुरुषों ने सत्य-धर्म पर अटल रहने ही से आंतर और बाह्य-शत्रुओं से विजय प्राप्त की थी।" इसका परिणाम यह हुआ कि-हिन्दूसूर्य श्रीमान् महाराणाजी साहब की इच्छा हमारे आचार्यश्री के साथ समागम करने की हुई। और इस बातकी सूचना महाराणाजी साहब के प्राईवेट सेक्रेटरी श्रीयुत गोपीनाथजी के द्वारा इस प्रकार मिली:—

"श्रीमत् धर्मप्रचारक आचार्य महाराज श्रीधर्मविजयसूरिजी की सेवा में,—

निवेदन यह है के श्रीमान् यावदार्यकुलकमलदिवाकर की इच्छा आज बारा बजे के करीब आप से समागम करने की है, महलों से आप को बुलाने के लिये आवेंगे, उस समय आप महलों पधारें वक्त १२ बजे के करीब का है सं० १९७२ का काती सुद १२ गोपीनाथ।"

समय होते ही आप को बुलाने के लिये महाराणाजी साहब की तर्फ से दो हजूरिये आए। उनके साथ आचार्य महाराजश्री अपने पांच शिष्यों—उपाध्यायजी श्रीइन्द्रविजयजी, प्रवर्तकजी श्रीमंगलविजयजी, मुनि विद्याविजयजी, मुनिश्रीन्यायविजयजी, और मुनिश्रीदेवेन्द्रविजयजी के साथ पधारे और बराबर बारह बजे शंभुविलासमहल में

महाराणाजी साहब से समागम

हुआ। शंभुविलास महल के एक प्राईवेट कमरे में आचार्यश्री अपने

शिष्यमंडल के साथ पधारे। हिन्दुसूर्य महाराणाजी साहब ने आपका बहुतही सत्कार किया। आचार्यश्री 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद देकर के स्थान पर बैठे। पश्चात् महाराणाजी भी सामने ही विराजे। इस समय का दृश्य अपूर्व ही था। एक आर्यधर्माभिमानी राज्याधिपति में जो तेजस्विता, गंभीरता और उदारतादि गुण चाहियें, वे महाराणाजी श्रीफतहसिंहजी बहादुर में पाये जाते थे। सूरिजी ने सब से पहिले इसी बात पर अपना हर्ष प्रकट किया, जो महाराणाजी साहब ने नवरात्रि और दशहरे के दिनों में पशुओं का वध बंद करवाया था। तत्पश्चात् करीब एक घंटे तक धर्मोपदेश दिया। जिसको महाराणाजी बड़ी गंभीरता और एकाग्रता के साथ श्रवण करते रहे। बीच बीच में आप प्रश्न भी करते जाते थे, जिसके यथायोग्य उत्तरों को श्रवण करके प्रसन्नता भी दिखलाते थे। इस समय श्रीमान् महाराणाजी साहब ने भी अपने जिन उदार आशयों को प्रकट किये थे, वे सचमुच वैसे ही थे, जैसे, धर्मपरायण और नीति के साम्राज्य को चलानेवाले एक राजपुरुष में होने चाहियें। हमारे चरित्रनायकजी अपने व्याख्यानों में कभी कभी कहते हैं कि—'यद्यपि मैं ने कई राजे-महाराजाओं से समागम किया है; परन्तु आर्यधर्म के सच्चे अभिमानी श्रीमान् उदयपुर महाराणाजी में जो विनय, विवेक, सभ्यता, उदारता, प्रजावत्सलता और गंभीरतादि गुण देखे, वे तो कोई अद्वितीय ही देखे। ठीक ही है, ऐसे जमाने में भी आर्यधर्म के रीति-रिवाजों को दृढता पूर्वक अगर कोई राज्य पालन कर रहा है, तो वह उदयपुर-राज्य ही है।

करीब एक घंटे तक वार्तालाप होने के पश्चात् आचार्यश्री ने अपने और अपने शिष्यों के बनाए हुए ग्रन्थ महाराणाजी साहब को भेंट किये। तदनन्तर वहाँ से उठ कर कुंवरजी साहब श्रीमान् भूपालसिंहजी साहब के पास पधारे। उठने के समय भी महाराणाजी साहब ने आप का बहुत सत्कार किया। जब आप कुंवरजी साहब के पास पधारे, उस समय विद्वद्रत्न श्रीमान् फतहकरणजी भी साथ ही थे। कुंवरजी के साथ आध घंटे तक बात चीत हुई। आप भी वैसे ही गुणवान् हैं, जैसे महाराणाजी साहब हैं। तत्पश्चात् करीब दो बजे आप उपाश्रय में पधारे।

उदयपुरनिवासी शासनप्रेमी,

शेठ रोशनलालजी चतुर.

उदयपुर में आप ने ऐसे ऐसे अनेकों महत्त्व के कार्य किये। यहाँ के बाबा सूरसिंहजी, महता पन्नालालजी सी. आइ. ई. (भूतपूर्व-दीवान उदयपुर) कुंवर फतहलालजी वगैरह कई अग्रगण्य आप के पास आया जाया करते थे, और अनेक प्रकार की धर्म चर्चा करते थे। राजपूताना के एजंट टू दी गवर्नर जनरल

सर ई. जी. कालिवन

साहब की यहाँ भी आप को मुलाकात हो गई। सर कालिवन साहब ने आप से करीब पौन घंटे तक वार्तालाप किया। आचार्यश्री ने भी प्रजाहितार्थ कितनीक बातें कहीं।

उदयपुर के जैनों का भक्तिभाव बहुत ही प्रशस्य था। आचार्य महाराजश्री के उपदेश को यहां के संघने, आप के विहार के दिन तक बराबर श्रवण किया। इसके सिवाय शासन प्रभावना के प्रत्येक कार्यों में द्रव्यव्यय करने में भी संकोच नहीं रक्खा। यहां तक कि साधारण मनुष्य भी यथाशक्ति प्रत्येक कार्यों में उत्साह से भाग लेते थे।

यहां के संघमें सेठ रोशनलालजी चतुर, सेठ मगनलालजी पुंजावत, सेठ चुनीलालजी चतुर, गुलाबचंदजी बेलावत, रामसिंहजी महता, मदनसिंहजी कोठारी वगैरह अग्रगण्य हैं, जोकि यहां के संघ के सर्वस्व कहे जा सकते हैं।

आचार्यश्री के उपदेश से यहां की हाथीपोल दरवाजे वाली जैनधर्मशाला में जैनलायब्रेरी की भी स्थापना हुई। तत्पश्चात् आपने मार्गशीर्षवदि ९ (सं. १९७२) के दिन यहाँ से केसरियाजी की ओर विहार किया, केसरियाजी में कुछ दिन ठहरकर पश्चात् गुजरात की ओर विहार किया।

गुजरात में भ्रमण

गुजरात के समस्त जैनों की इस प्रकार की तीव्र इच्छा हो रही थी कि-कब आपके दर्शन करें। यह बात प्रत्येक मनुष्य को स्वानुभवसिद्ध है कि—जिस वस्तुको हम बार बार देखते हैं, अथवा जिसका हम पुनः पुनः अनुभव करते हैं, उसमें न तो हमें कुछ विशेषता ही मालूम होती है, और न उसके देखने व अनुभव करने की तीव्र आकांक्षा ही रहती है। परन्तु वही वस्तु कुछ समय के लिये हम से दूर हो जाय, तो फिर उसके देखने व अनुभव करने की तीव्र इच्छा होती है।

हमारे चरित्रनायकजी के विषय में भी ऐसा ही हुआ। गुजरात की प्रजा आज पनरह वर्षों से आप से विरही हो रही थी। और इससे आपके दर्शन एवं मधुर देशना श्रवण करने की तीव्र इच्छा हो, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? फिर भी इसमें एक विशेषता थी। जिस समय हमारे चरित्रनायकजी गुजरात में थे, उस समय की आपकी विभूति और इस समय की विभूति में आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। पहिले आप में जो विद्वत्ता थी, उसमें आज कई गुनी विशेषता बढ़ गई है। पहिले आपका जो अनुभव ज्ञान था, उसमें आज असाधारण संस्कार हो गया है। पहिले जो उपदेशशैली थी, उसका भी स्वरूप बदल गया है। ठीक ही है। देश-देशान्तरों में विचरने से, नए नए मनुष्यों के सहवास में आने से एवं अन्यान्य सम्प्रदाय के अनुयायियों के आन्दोलनों का निरीक्षण करने से मनुष्यों की प्रत्येक शक्तियों में एक प्रकार का वैलक्षण्य हो ही जाता है। जमाने का सच्चा स्वरूप उनके जानने में आ जाता है। संकुचित विचारों की मात्राएं उनसे दूर हो जाती हैं और किन किन प्रयत्नों के करने से समाज व धर्म की उन्नति हो सकती है? इसका, उनको बराबर ख्याल हो जाता है। आपने इन पनरह वर्षों के गुजरात से इतर देशों के विहार में अभिनव ज्ञान और असामान्य अनुभव प्राप्त किया था, इतना ही नहीं,

परन्तु ऐसे कार्यों को, कि जिन कार्यों को एक साधारण मनुष्य कभी नहीं कर सकता, करके जैनसमाज को उपकृत किया था, इससे गुजरात के जैनों को और भी विशेष आनंद का विषय था।

आप ने केशरियाजी से विहार करके पहाड़ी मुल्क में होते हुए गुजरात में प्रवेश किया। गुजरात का प्रवेश द्वार आपने वड़ाली को बनाया। अर्थात् आपने वड़ाली से गुजरात में प्रवेश किया। यहाँ से आप ईडर पधारे। ईडर में आने के पश्चात् कुछ ही समय में आपके हाथ में यकायक व्याधि हो गया। इस व्याधि ने ऐसा भयंकर स्वरूप पकड़ा कि, आप को करीब एक महीने तक बड़ी भारी तकलीफ उठानी पड़ी। इसी बीच में आप को कलकत्ते की '**एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल**' के मंत्री द्वारा यह सूचना मिली कि—'**आप, १ दिसम्बर १९१५ से सोसाइटी के एसुसीयेट मेम्बर बनाए गये हैं।**' कहना आवश्यक होगा कि—इस सोसाइटी के एसुसीयेट मेम्बर वेही हो सकते हैं, जो अपनी विद्वत्ता के कारण भारतवर्ष और पाश्चात्य देशों में सुप्रसिद्ध हुए हों, और जिन्होंने साहित्य, इतिहास और अन्वेषण वगैरह कार्यों में उन्नति की हो।

ईडर से आप **हिम्मतनगर** पधारे। यहाँ कई उपचारों के पश्चात् ज्योंही आपको आराम हुआ, त्योंही आपने अपना विहार आगे बढ़ाया। ज्यों ज्यों आप आगे बढ़ते गये, त्यों त्यों दूर दूर के जैन गृहस्थ अपने अपने गाँवों में पधारने के लिये निमंत्रण करने को आने लगे। प्रत्येक गाँव वाले अपने अपने गाँवों में लेजाने के लिये उत्सुक हो रहे थे। जिस जिस गाँव में आप जाते थे, उस उस गाँव वाले आपका बड़ा ही सत्कार करते थे। आप भी बड़े परिश्रम के साथ एक एक दिन में दो दो दफे व्याख्यानों को सुना कर 'असत्य का त्याग', 'नीति से द्रव्योपार्जन' 'साधुओं के धर्म क्या हैं' 'गृहस्थ किसे कहते हैं?' 'गृहस्थों के धर्म क्या हैं?' 'परस्त्री का त्याग,' कुव्यसनों से नुकसान,' इत्यादि विषयों को खूब अच्छी तरह समझाते थे। आपके उपदेश से बहुत से मनुष्य असत्य का त्याग करते थे। 'व्यापार में किसी प्रकार की ठगाई या अनीति नहीं करना', 'पर स्त्री को माता और बहन समझना' 'होटलों में न जाना, एवं 'कुव्यसन त्याग' इत्यादि कई प्रकार की

प्रतिज्ञाएं भी करते थे। इस प्रकार ईडर, हिम्मतनगर, प्रांतिज, संघपुर, साघपुर, देहगाम, डभोडा, वलाद नरोडा, वगैरह गाँवों में होते हुए आप माघ सुदि १२ के दिन

अहमदाबाद

पधारे। यद्यपि आपका, फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के मेले पर उपरीयालाजी पहुँचने का इरादा होने से, आप अहमदाबाद न जाकर सीधे ही वीरमगाम जाना चाहते थे। परन्तु अहमदाबाद के जैनों के अत्याग्रह से एक दो दिन के लिये वहाँ जाना मंजूर करना ही पड़ा। अहमदावाद एक जैनपुरी गिनी जाती है। पचास हजार जैनों की वस्ती यहाँ ही पाई जाती है, और कहीं नहीं। छोटे मोटे सैंकड़ों जैन मन्दिर इसी शहर में हैं, और किसी शहर में नहीं। और लाखों जिनबिंबों के दर्शन यहाँ ही हो सकते हैं और किसी नगर में नहीं। ऐसे शहर के जैनलोग आपकी चाहना करें—आप को निमंत्रण करके अपने शहर के गौरव में वृद्धि करें, यह जितना कर्त्तव्य स्वरूप था, उतना ही आप को यहाँ पधारना भी आवश्यक था। जिस दिन आपने अहमदाबाद शहर में प्रवेश किया, उसके प्रथम दिन आप शशपुर में ठहरे। प्रवेशदिन के प्रातःकाल सूर्योदय के पहले ही से शहर और शाहपुर से हजारों मनुष्यों के झुंड के झुंड शशपुर में आवे लगे। करीव साढ़े सात वजते वजते हजारों स्त्री पुरुष शशपुर के उपाश्रय में इकट्ठे हो गये। कई साधु और साध्वियों के समुदाय भी एकत्रित हो गये। आपके प्रवेशोत्सव की शोभा अपूर्व ही थी। जहाँ देखो वहाँ मनुष्य ही मनुष्य दिखलाई पड़ते थे। प्रत्येक वाजारों में, जैसे पांचकुआ, माणेकचोक वगैरह में सुनेरी अक्षरों के वोर्ड, वड़ी वड़ी पताकाएं एवं सोनेरी व रेशमी कपड़ों के पड़दे प्रत्येक दुकानों पर लगे हुए थे। पांचकुआ, रीचिरोड, माणेकचौक, ओर झवेरीवाड़ा वगैरह स्थानों में होते हुए करीव १ वजे आपका शाहपुर के उपाश्रय में पधारना हुआ। वृद्ध वृद्ध पुरुष भी कहते थे, कि—सौ वर्ष में, किसी भी साधु के स्वागत के निमित्त ऐसा समारोह नहीं हुआ। इस समारोह का सर्वाधिक श्रेय

शाहपुर के जैनों को ही है। क्योंकि शाहपुर के जैनगृहस्थों के प्रयत्न का ही यह फल था।

शाहपुर के जैन गृहस्थ—सेठ जेसिंघभाई, सेठ डाह्याभाई, श्रीयुत फूलचंदभाई, मणिलाल डाह्याभाई बी. ए. वगैरह उत्साही और शासन प्रेमी महानुभावों के किये हुए प्रबन्ध से भगुभाई के वंडे में आप ने एक साथ दो व्याख्यान 'पुरुषार्थ' पर दिये। इन दोनों पब्लिक व्याख्यानों में पांच पांच सात सात हजार मनुष्य एकत्रित होते थे।

एक और बात यहाँ कह देना चाहता हूं। अहमदाबाद एक ऐसा स्थान है कि-जहाँ छोटे-बड़े सभी जैन साधुओं का प्रायः आना जाना होता है; परन्तु आज तक ऐसा कभी नहीं हुआ था कि, किसी भी जैन साधु ने यहां आकर पब्लिक व्याख्यान दिया हो। इसका कारण यही था कि, हमारे बहुत से साधु तो पब्लिक व्याख्यानों के कट्टर विरोधी ही देखने में आते हैं। इन्हों का यह सिद्धान्त है कि—जैनसाधु को पब्लिक व्याख्यान करना ही नहीं चाहिये। और कदाचित् कोई साधु पब्लिक व्याख्यान देना भी चाहते थे; तो विरोधि पक्षवाले उस साधु के उद्देश्य को सफल नहीं होने देते थे। साधु महाराजभी श्रावकों के दाक्षिण्य में आकर अपने विचारों को अमल में नहीं ला सकते थे। जो कुछ था। परन्तु यहां आजतक किसी साधु ने पब्लिक व्याख्यान नहीं दिया था, यह बात अवश्य थी। और आपने ही इसकी पहल की। यद्यपि आप के प्रथम व्याख्यान के दिन यहां के कतिपय जैनों में यह चर्चा अवश्य हुई, कि—'हम लोग बैठे रहें, और हमारे गुरु खड़े होकर के व्याख्यान दें, यह बात बिलकुल अनुचित है', परन्तु व्याख्यान के प्रारंभ में ही आप ने इसका खुलासा यों किया—"किसी भी अधिकार में रहा हुआ, कोई भी मनुष्य हो, परन्तु उसको स्टेज के अनुसार ही कार्य करना चाहिये। इससे वह अपने अधिकार से च्युत नहीं गिना जा सकता। और अविनय जैसी भी कोई बात नहीं है। जैसे, हमारे भारत सम्राट् पंचमजार्ज, जिस समय पार्लेमेंट या किसी सभा में व्याख्यान देते हैं, तब वे खड़े होकर के ही देते हैं। इससे वे न तो अपने पद से न्यून गिने

जा सकते हैं, और न उनका अविनय ही होता है। पब्लिक व्याख्यानों का रिवाज ही ऐसा है कि—खड़े होकर के व्याख्यान देना।" इस खुलासे से लोगों की शंका का समाधान बहुत अच्छी तरह हो। गया आप ने एक और बात भी बड़े मारके की कही—"जो लोग यह समझते हैं कि—'साधुओं को, अपने स्थान से अन्य स्थानों में जाकर के व्याख्यान देने की क्या जरूरत है? । जिनको सुनना होगा, वे अपने स्थान में आवेंगे', परन्तु, यह विचार बिलकुल ठीक नहीं। जिन्होंनें जगत् के उद्धार के लिये ही साधुता का स्वीकार किया है, जिन्होंने पक्षपात को तिलाञ्जलि दे दी है, जिनकी भावना जगत् में सत्यधर्म के प्रकाशित करने की है, और जिन्होंने वसुधा को ही अपना कुटुंब समझ लिया है, वे अपने स्थान के कोने में बैठ करके जगत् का उद्धार करना नहीं चाहते। वे यही चाहते हैं कि—हमारे उपदेश का लाभ अधिकाधिक मनुष्यों को मिले। परमात्मा महावीर देवने ऐसे पक्षपात के एक अंश को भी अपने पास फटकने नहीं दिया था। और प्रतिसमय वे इस भावना को हृदय में धारण करते थे, कि—'मैं जगत्के समस्त प्राणियों को धर्म के अनुयायी बनाऊं।' हम भी उन्हीं परमात्मा के पुत्र हैं। इस लिये हमें चाहिये कि—जहां तक बन सके, उन्हीं जैसी भावना और उदारता रखने का प्रयत्न करें।"

आपके इन विचारों का लोगों पर बिजली का सा असर हुआ। और इसी के परिणाम से आपको यहाँ पर विशेष समय ठहरने और प्रतिदिन पब्लिक व्याख्यान करने की विनति भी होने लगी। यद्यपि आप शाहपुर में विराजमान थे, परन्तु शहर के भिन्न भिन्न पोल वाले बड़ी धूमधाम के साथ आपको अपनी अपनी पोलों में ले जाते थे, और वे पब्लिक व्याख्यान भी करवाते थे। झांपडे की पोल, लक्ष्मीनारायण की पोल, झौहरीवाडे और पतासे की पोल, इन पोलों में आपका पधारना हुआ था। जिस पोल में आप का जाना होता था, उस पोल वाले बड़े समारोह के साथ आप का प्रवेश कराते थे। पोल में प्रवेश करते ही आप १ से १॥ घंटे तक व्याख्यान देते थे। पश्चात् दुपहर को पब्लिक व्याख्यान दो से पांच बजे तक करते थे। आपके इन

व्याख्यानों में सात सात आठ आठ हजार मनुष्य एकत्रित होते थे। आप की सुमधुर ध्वनि के प्रताप से सभी मनुष्य शान्तचित्त से व्याख्यान श्रवण करते थे। यहां भी आप, अपने व्याख्यानों में उन्हीं विषयों पर विशेष विवेचना करते थे, जिनका भारतवर्ष में, खास कर के गुजरात में अधिक प्रचार हो रहा है। 'अनीति', 'असत्य', 'मद्य', 'जूआ' 'बीड़ी', 'वेश्यागमन', इन्हीं विषयों में बहुत से मनुष्य अपने धर्म, कुलमर्यादा, द्रव्य और अपने शरीर का भी क्षय कर रहे हैं। आप के उपदेशों का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि—सैंकड़ों नवयुवकों ने होटलों में जाना, जूआ खेलना, मद्य पीना, बीड़ी पीना इत्यादि बातों का त्याग कर दिया। जो लोग कभी किसी साधु के पास नहीं जाते थे, ऐसे अनेकों मनुष्यों की भक्ति आप के प्रति जाग्रत हुई। वे आप के पास आने जाने लगे और साथ ही साथ शंकाओं का समाधान भी करने लगे। जनरव ऐसा था, कि–अहमदाबाद की प्रजा को जो लाभ वर्षों से नहीं मिला, वह लाभ आप के बारह दिनों के उपदेश से प्राप्त हुआ। यहाँ आपने कुल

बारह दिनों में आठ व्याख्यान

दिये। यद्यपि इस असाधारण परिश्रम से आप को बहुत तकलीफ उठानी पड़ी, परन्तु इसके साथ ही साथ जो अपूर्व लाभ हुआ, इससे आप को बहुत संतोष हुआ। आपने यहाँ एक और भी बड़े महत्त्व का कार्य किया। वह है

बांकुरा दुष्कालफंड

का। जिस समय आप अहमदाबाद में थे, उस समय वर्तमान पत्रों और देशशुभेच्छकों से आप को यह ज्ञात हुआ कि–'बेंगाल के बांकुरा प्रांत में भयंकर दुष्काल पड़ रहा है। उस प्रान्त के मनुष्य अनिर्वचनीय दुःख पारहे हैं। और वहां के बाल बच्चे दो दो पांच पांच रुपयों में बेचे जा रहे हैं।' ऐसी स्थिति को सुन आपके हृदय में बड़ा आघात पहुंचा। आपने विचार किया कि—"हमलोग छोटे छोटे प्राणियों को बचाने के लिये रात-दिन प्रयत्न करते हैं। एक पशु को कोई मारता हो, तो उसके बचाने के लिये गृहस्थ लोग हजारों रुपयों का व्यय कर देते हैं। तब,

आज भारतमाता की लाखों संतानें, विना अन्न के मृत्यु के ग्रासरूप हो रही हैं, उनके लिये हम कुछ भी न करें, तो हमारे जैसे निर्दय और कौन हो सकते हैं ? । मनुष्यजाति सब से उच्चतम गिनी जाती है । इसको बचाने के लिये प्रयत्न करना, यह सब से प्रथम कर्त्तव्य है ।"

इत्यादि विचारों के उद्भव होने से आपने अपने व्याख्यानों में इसका उपदेश प्रारंभ किया । इस विषय का प्रथम उपदेश आपने लक्ष्मीनारायणपोल के पब्लिक व्याख्यान में किया । तदनन्तर दूसरे व्याख्यानों में भी इसी विषय का उपदेश देने से अहमदावाद से करीब दो हजार रुपयों का फंड हो गया । इसकी यहाँ एक कमिटी भी हुई थी, जो इसके लिये विशेष प्रयत्न करती थी ।

अहमदावाद की जैन और जैनेतर प्रजा का आप के प्रति विशेष भक्ति-भाव विकसित हुआ । साहित्यप्रेमी साक्षरवर्य श्रीयुत केशवलाल हर्षदराय ध्रुव एवं डॉ. जीवराज घेलाभाई ने भी आचार्यश्री से समागम करके लाभ उठाया । इन दोनों महानुभावों ने अपने बनाए हुए ग्रंथ सूरिजी को भेंट भी किये । अहमदावाद के समस्त जैनों ने आप को यहाँ चातुर्मास करने के लिये साग्रह विनति भी की । परन्तु इसी वर्ष में सिद्धाचलजी की यात्रा करने की इच्छा होने से, आप उनकी विनति का स्वीकार नहीं कर सके ।

आपने यहां से फाल्गुन वदि १० के दिन विहार किया । रास्ते में ओगणज, कलोल, पानसर, कीयोल, लींच, जोटाणा, भोयणी, रामपुरा और भडाणा होते हुए वीरमगाम पधारे । लींच वही है, जहाँ हमारे न्याय-तीर्थ-न्यायविशारद प्रवर्त्तकजी श्रीमंगलविजयजी महाराज का जन्म हुआ था । आप का विस्तृत कुटुंब यहाँ ही रहता है । प्रवर्त्तकजीमहाराज भी, सूरीश्वरजी के साथ में ही होने से लींच के समस्त गृहस्थों को एक और ही प्रकार का आनन्द हुआ । वीरमगाम से फाल्गुन सुदि ७ के दिन आप

उपरियालाजी

पधारे । यह वही तीर्थ है, जिसका उद्धार आपही के उपदेश से हुआ था । और आप ही के उपदेश से यहां फाल्गुन सुदि ८ के दिन प्रतिवर्ष

मेलो हुआ करता है। आप यहां कई वर्षों के बाद पधारने वाले होने से यहां की कमेटी ने पहले ही से गांव गांव इस बात की सूचना करदी कि—"अबकी बार फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के मेले के समय सुप्रसिद्ध शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरिजी महाराज भी पधारनेवाले हैं। इस लिये स्थावर और जंगम—दोनों प्रकार के तीर्थों की यात्रा का लाभ मिलेगा।" इस कारण से इस मेले पर पांच सात हजार मनुष्य एकत्रित हो गये। इस तीर्थ की कमेटी ने लोगों के ठहरने के लिये मकान और तंबूओं का पहले ही से बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रक्खा था। एक मैदान में व्याख्यानों के लिये सुसज्जित मंडप भी खड़ा कर दिया था। इसी मंडप में आप के दो व्याख्यान हुए। भिन्न भिन्न गांवों के हजारों मनुष्यों को उपदेश देने का यहां अच्छा प्रसंग मिला। आपने समयोचित अपने व्याख्यानों में एक यह भी बात कही कि—"आज कल गृहस्थों में न मालूम एक ऐसी ही प्रवृत्ति पड़ गई है कि द्रव्यव्यय करने में वे इस बात को भी नहीं विचारते हैं कि, जिस क्षेत्र में द्रव्यव्यय किया जाता है; उसमें द्रव्य की आवश्यकता है या नहीं? और इसी के परिणाम से जहां देखो वहां मंदिरों में लाखों रुपयों की संपत्ति देखने में आती है। इतना होने पर भी लोग उसी तरफ झुके जा रहे हैं। दूसरी ओर हम ख्याल करते हैं तो, जैनों में अपने जातिभाइयों के उद्धार के लिये न परस्पर की सहायता है। और न ऐसी कहीं ज्ञान शालाएं, बालाश्रम और बोर्डिंग वगैरह संस्थाएं देखी जाती हैं, कि जिनमें हजारों जैनबच्चे शिक्षा पा रहे हों। इस अवस्था में क्या जैन गृहस्थों का यह कर्तव्य नहीं है कि—वे अपने सद्व्यय के प्रवाह को दूसरी ओर मार्ग दें? जिस क्षेत्र में द्रव्य की अधिकता हो जाय, उसमें विशेष वृद्धि करने से क्या लाभ? जिसमें आवश्यकता हो, उसमें पूर्ति क्यों न की जाय? इसके साथ ही साथ हम यह भी अवश्य कहेंगे, कि, हम उन लोगों के विचारों से भी कभी सहमत नहीं हो सकते, जो देवद्रव्य को अन्यान्य क्षेत्रों में लगाना चाहते हैं। देवद्रव्य अन्य क्षेत्रों में कभी नहीं लगाया जा सकता। इस लिये अब गृहस्थों को यही करना चाहिये कि—वे अपने रुपयों को साधारण खाते में लगावें, जिससे उन

रुपयों का सभी कार्यों में व्यय हो सके।"

आपकी इस सूचना पर लोगों ने ध्यान दिया और यहां आए हुए मनुष्यों ने इस तीर्थ में जो रुपये लिखवाए, वे साधारण खाते में ही। आपके उपदेश से इस समय करीब पच्चीस सौ रुपयों की आमदनी हो गई।

यह उपरियाला गांव, बजाणा के दरबार के अधिकार में है। बजाणा के दरबार श्रीजीवणखानजी साहब की आज्ञा से इस मेले पर पुलिस का बंदोबस्त भी अच्छा हुआ था। इतना ही नहीं परन्तु-

बजाणा के दरबारश्री

स्वयं भी यहाँ पधारे थे। और आचार्यश्रीका उपदेश श्रवण किया था। आचार्यश्रीने उपरियालातीर्थ में चाहिये वैसी धर्मशाला के अभाव से यात्रियों को कितनी तकलीफें उठानी पडती हैं, इस ओर उनका चित्त आकर्षित किया। और इसके परिणाम से दरबारश्रीने कमेटी को जैसी चाहिये वैसी ज़मीन धर्मशाला के लिये देने का स्वीकार भी किया। कुछही दिनों में ज़मीन दे भी दी।

यह उपरियालातीर्थ नया नहीं, परन्तु बहुत पुराना है। पांचसौ वर्षों के पहिले यहाँ एक बडा भारी मंदिर था। और यही ऋषभदेव भगवान् की प्रतिमा, जो आजकल मंदिर में बिराजमान है, उस मंदिर में विद्यमान थी। उन दिनों में यहाँ श्रावकों के घर भी बहुत थे। वर्त्तमान में जो प्रतिमाएं हैं, वे कुछ वर्षों के पहिले ज़मीन से निकली थीं। संभव है, जहाँ से ये मूर्त्तियाँ निकली हों, वहाँ अगर शोध की जाय, तो और भी कई प्राचीन वस्तुएं मिल जाँय।

उपरियाला से आप मांडल पधारे। मांडल में आपका बडा सत्कार हुआ। और उत्सव भी हुआ। हमारे न्यायतीर्थ-न्यायविशारद मुनिराज श्रीन्यायविजयजी, पूर्वावस्था में यहाँ ही के निवासी थे। दीक्षा लेने के पश्चात् इनका प्रथम ही यहाँ आना हुआ था। अतः यहाँ के जैनों के हर्षका बढ़ जाना संभावित था। यहाँ से आप पाटडी पधारे।

पाटडी के दरबार

ने आपके व्याख्यानों से अच्छा लाभ उठाया। दरबार की अध्यक्षता में आपने एक पब्लिक व्याख्यान भी दिया। इसके सिवाय दरबारश्रीने अपने महल में भी पधारने का आपको निमंत्रण किया। अतः वहाँ पधार कर दरबारश्री को धर्मोपदेश दिया।

काठियावाड में पर्यटन

गुजरात में आपने इस समय एक भी चातुर्मास नहीं किया। इसका कारण हम पहले ही कह चुके हैं कि—आप को सिद्धक्षेत्र (सिद्धाचलजी) की यात्रा की बड़ी ही लगन लग रही थी। इसी से आप प्रत्येक गाँवों में दो दो चार चार दिनों की स्थिरता करते हुए आगे ही बढ़ते रहे। गुजरात के भ्रमण को पूरा करके अब आपने काठियावाड में प्रवेश किया। काठियावाड का विहार आपने दसाड़े से प्रारंभ किया। और सं. १९७१ का चातुर्मास पालीताने में किया। पालीताने में वैशाख शुक्ला १९ के दिन प्रवेश किया। इसके बीच में दसाड़ा, बजाणा, वढवाणकेंप, वढवाणशहेर, अंकेवालीया, लींबड़ी, बोटाद, पछेगाम और वला इत्यादि नगरों में चार चार, पांच पांच और कहीं कहीं इससे भी अधिक दिनों की स्थिरता करके बड़े बड़े उपकार के कार्य किये। यद्यपि यह प्रदेश इतना धनाढ्य नहीं है, तथापि आपने इस प्रदेश से भी कम से कम पांच से सात हजार रुपये

दुष्कालफंड

में करवाए। यह आपके उपदेश का ही प्रभाव था। जिन गाँवों में सौ दोसौ रुपयों के होने की आशा नहीं थी, उन गाँवों में आप के थोडे से उपदेश से पांच पांच, सात सात सौ रुपये हो जाते थे। इस

समय एक ओर बांकुरा प्रांत में भयंकर दुष्काल था, और दूसरी ओर इसी प्रदेश में वर्षा के नहीं होने के कारण पशुओं को बड़ा ही त्रास हो रहा था। इस लिये आप के उपदेश से जो फंड होता था, उसकी व्यवस्था, कमेटी इस प्रकार से करती थी, जिस में दोनों को लाभ मिले।

इसके सिवाय आप के उपदेश से

दसाडे में जीवदया का कार्य

भी बडे महत्त्व का हुआ। बात यह थी कि—दसाड़े में एक बडा भारी तालाब है। उस तालाब से मुसलमान लोग मछलियों को हमेशा मारते थे। यहां के महाजन ने बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु यह बन्द नहीं होता था। जब आप यहाँ पधारे, तब यहाँ के नवाब जिनखानजी वगैरह की अध्यक्षता में दो व्याख्यान किये। एक व्याख्यान खास करके आपने 'जीवदया' के विषय पर ही दिया। आप के व्याख्यान का प्रभाव इन नवाब साहबों के ऊपर अच्छा पडा। व्याख्यान के पश्चात् यहां के काजी साहब ने भी आप की बात को बहुत पुष्ट किया। तदनन्तर उसी समय सब भागीदारों ने अपने गांव में इस प्रकार की उद्घोषणा करवा दी कि—'अब से जो कोई मनुष्य यहां के तालाब से मछलियों को मारेगा अथवा जाल डालेगा, उसको पचास रुपये जुर्माने और छे महीनों की सजा की जायगी।' बस, इसी दिन से यहाँ के तालाब की हिंसा दूर हो गई। यहां के सेटलमेन्ट ऑफीसर श्रीयुत चिमनलाल गिरधरलाल मेहता, जो कि आपके प्रति बडी ही पूज्यबुद्धि रखते हैं, इनका यहाँ ही प्रथम समागम हुआ। श्रीयुत मेहता को, आपके व्याख्यानों पर बडाही मोह है। और इसी कारण से तो वे, पालीताने में भी आप के व्याख्यानों के श्रवण करने के लिये आए थे।

बढ़वाणकेंप में चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन आप के उपदेश से

महावीर जयन्ती का उत्सव

भी बडे समारोह से हुआ था। यह महावीर जयन्ती का उत्सव प्रतिवर्ष आप जहाँ कहीं होते हैं, वहाँ आप के उपदेश से होता ही है। करीब दश वर्षों के पहले महावीरजयन्ती कहीं भी नहीं होती थी। परन्तु

आप ने काशी में इसके प्रारंभ करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। इसके बाद, अब प्रायः सभी गाँवों और नगरों में हुआ करती है। अतएव इसका भी सर्वाधिकश्रेय आप ही को है।

इसके सिवाय आजकल

लींबडी में जैनबोर्डिंग

चल रहा है, यह भी आप ही के उपदेश का परिणाम है। क्योंकि जब आप लींबडी पधारे, उस समय इस प्रान्त के लिये लींबडी में एक जैनबोर्डिंग की आवश्यकता आप को मालूम हुई। और इसके लिये यहां के जैन गृहस्थों को उपदेश देकर कुछ फंड भी करवा दिया। तत्पश्चात् यहां के जैनगृहस्थ सेठ उमेदभाई नानचंद पारेख और सेठ केशवलाल वगैरह के सतत परिश्रम से बोर्डिंग स्थापित हुआ, जोकि आजकल अच्छी तरह चल रहा है।

एक बात यहां और कहने की है। लींबडी में मूर्तिपूजक और स्थानकवासी दोनों सम्प्रदाय वाले रहते हैं। कभी कभी इन दोनों का आपस में झगडा भी हो जाता है। परन्तु आप के व्याख्यान में मूर्तिपूजक जैनों के सिवाय स्थानकवासी भी बराबर आते थे। यहाँ तक कि—स्थानकवासी संप्रदाय के प्रसिद्ध साधु श्रीयुत नागजी स्वामी और नानचंदजी स्वामी भी अपने शिष्यमंडल के साथ पब्लिक व्याख्यानों में आए थे, और आचार्यश्री की उदारता एवं विद्वत्ता पर अपना हार्दिक प्रेम प्रकट किया था। दोनों संप्रदायों के प्रसिद्ध मुनिमंडलों के एक साथ बैठने और व्याख्यानों के करने से जनसमाज के हृदयों में जो अपूर्वानंद की लहरें उछल रहीं थीं, इसका वर्णन यह तुच्छ लेखिनी नहीं कर सकती।

इस प्रकार अनेक कार्यों को करते हुए आप पालीताने में पधारे। पालीताने में आप का बड़ा भारी प्रवेशोत्सव हुआ। स्टेट के घोडे, पलटन, बैंड वगैरह समस्त सामग्रीपूर्वक आप का बडे समारोह के साथ स्वागत हुआ। कहते हैं, पालीताने में आज तक किसी का ऐसा स्वागत नहीं हुआ। ज्येष्ठ वदि १ के दिन बहुत से साधु और सैंकडों यात्राळुओं के साथ आपने सिद्धाचलजी की यात्रा की।

इस समय भावनगर के जैन गृहस्थों ने चातुर्मास के लिये आप से साग्रह प्रार्थना की थी । परन्तु तीर्थस्थान में एक चातुर्मास करने की उत्कृष्ट भावना से आपने

पालीताने में चातुर्मास

किया । पालीताना यह 'तीर्थक्षेत्र' है । इस लिये यहाँ विशेष कार्य की आशा नहीं रक्खी जासकती । यहाँ तो निवृत्ति पूर्वक ज्ञान, ध्यान और तपस्या से ही काम रहता है । सिद्धाचल जैसे तीर्थक्षेत्र में विशेष प्रवृत्ति नहीं रहती । क्योंकि यहाँ मनुष्यों का सहवास बहुत कम रहता है । परन्तु आपके लिये तो 'राम वहाँ अयोध्या' जैसा ही हुआ । यहाँ भी आप के विराजने से वैसी ही घूमधाम रही, जैसे बड़े बड़े शहरों में रहती है । प्रथम तो आप के यहाँ चातुर्मास करने से दूर दूर के सैंकड़ों मनुष्यों ने यहाँ ही चातुर्मास किया । यहाँ प्रतिदिन प्रातः काल ८ से १० बजे तक, मोतीसुखिया की धर्मशाला में व्याख्यान का नियत समय था । यद्यपि यहाँ बहुत से और भी साधुओं का चातुर्मास था, परन्तु उनमें से कोई भी व्याख्यान नहीं करते थे । और एकाध करते भी थे, तो वे नहीं के बराबर थे । क्योंकि, उनके व्याख्यान में इन गिने मनुष्यों के सिवाय विशेष कोई जाते आते नहीं थे । जब आपके वहाँ हजार हजार मनुष्य व्याख्यान में एकत्रित होते थे । आप कभी कभी पब्लिक व्याख्यान भी देते थे । जिसमें गाँव के समस्त ज्ञाति के मनुष्य एवं स्टेट के अधिकारी लाभ लेते थे ।

जिस समय यहाँ वर्षा के अभाव से पशुओं को बड़ा भारी त्रास होने लगा, उस समय पशुरक्षक कमेटी की प्रेरणा से आपने पशुरक्षा के लिये भी एक व्याख्यान दिया । यद्यपि पशुरक्षक कमेटी ने यह विचार किया था कि—यात्रालुओं में से सौ पचास रुपये इकट्ठे हो जायेंगे; तो बरसाद होने तक पशुओं के लिये घास—चारे का कुछ प्रबन्ध हो जायगा । परन्तु जब आप ने व्याख्यान दिया और अपनी आँखों से देखे हुए पशुओं के दुःखों का चित्र खड़ा किया, तब लोगों के हृदय य ... क दया की ऊर्मियों से उछल पड़े, और उसी समय दस मिनिट

के अन्दर अन्दर नवसौ रुपये इकट्ठे हो गये। आप के उपदेश के प्रभाव का इससे ज्वलंत उदाहरण और क्या दिया जा सकता है ?।

यहाँ के एडमिनिस्ट्रेटर मी० स्ट्यूडर ओवन साहब, आप से बड़ा ही प्रेम और घनिष्ठ संबंध रखते हैं। पहले पहल आप का समागम वढवाण कैंप में हुआ था। आचार्यश्रीके उपदेश से साहब बहादुर को बड़ी ही प्रसन्नता हुई थी। पालीताने में भी आपका कई बार समागम हुआ। आचार्य महाराजश्री की निःस्वार्थवृत्ति और परोपकार दृष्टि से ओवन साहब को आप पर बड़ी ही श्रद्धा जाग्रत हुई। और इसीसे आप जिस समय, जो कुछ कार्य ओवन साहब को सूचित करते थे, उस कार्य को शीघ्र ही अमल में लाते थे।

कार्त्तिकी पूर्णिमा पर पालीताने में हजारों यात्री दूर दूर से आते हैं। इस समय आप का बिराजना होने से १२ से १५ हजार मनुष्यों का मेला हुआ था, जो कि पिछले ८-१० वर्षों में ऐसा मेला हुआ ही नहीं था। हम यहाँ एक और बात का जरासा उल्लेख करना चाहते हैं।

पालीताने जैसे पवित्र तीर्थस्थान में ऐसी अनेकों धर्मशालाएं विद्यमान हैं, जिनमें हजारों यात्रालु आसानी से ठहर सकते हैं, और निश्चिन्तता से तीर्थयात्रा कर सकते हैं। परन्तु यह खेद का विषय है कि, उन धर्मशालाओं के मुनीमों की नादरशाही से यात्रालुओं को जो कष्ट उठाने पड़ते हैं, वे बिलकुल अनिर्वचनीय हैं। धर्मशाला में ठहरने के लिये स्थानों के रहने पर भी यात्रालुओं को स्थिति करने नहीं देना, उनके असबाबों को बाहर फेंक देना और स्थान देने के लिये इच्छानुसार चार्ज मांगना, ये सारी क्रूरताएं, हजारों कोसों से भक्तिपूर्वक तीर्थ यात्रा के लिये आने वाले श्रद्धालु जैनों के हृदयों में कितना आघात पहुंचाती होंगी, इसका अनुमान करना कोई कठिन बात नहीं। हमें इस वर्ष में ऐसे भी गरीब यात्रालुओं के देखने का दौर्भाग्य प्राप्त हुआ था, जिन पर, इसी त्रास के मारे बिना यात्रा किये ही पीछे लौट जाने की नौबत आ गई थी। हम नहीं समझ सकते कि, जिन लक्ष्मीपुत्रों ने हजारों रुपयों का व्यय करके धर्मशालाएं बनवाई हैं, उन्होंने किस लिये बन-

थाई ? । क्या उनके मुनीमों द्वारा यात्रालुओं को त्रास देने के लिये ! । क्या उन धर्मशाला के मालिकों को इस बात पर लक्ष्य नहीं देना चाहिये ? । हम एडमिनिस्ट्रेटर मी० ओवन साहब को अनेक धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकते, जिन्होंने आचार्यश्री के उपदेश से यात्रालुओं को ठहरने के लिये अनेक सरकारी मकान खाली करवा दिये थे ।

इस वर्ष में ऐसा बडा मेला होन से यात्रालु लोग, यात्रा के साथ ही साथ आपके उपदेश का भी लाभ उठावें, इस अभिप्राय से एक

भाषण श्रेणी

भी रक्खी गई थी । व्याख्यानों के लिये मी० ओवन साहब बहादुर की आज्ञा से तलेटी के ऐन रास्ते पर बडे मैदान में स्टेट की तर्फ से एक ऐसा सुसज्जित मंडप खड़ा किया गया, जिसमें पांच से सात हजार मनुष्य आसानी से बैठ सकें । इसी मंडप में आप के चार दिन पब्लिक व्याख्यान हुए । प्रतिदिन पांच से सात हज़ार मनुष्य व्याख्यानों के श्रवण करने का लाभ लेते थे । इन्हीं सभाओं में एक दिन स्वयं ओवन साहब भी प्रेसीडेंट हुए थे । साहब बहादुर ने आचार्यश्री के व्याख्यान के प्रति अपनी सहानुभूति और प्रेम दिखलाते हुए कहा था:—"आपके पवित्र तीर्थ सिद्धाचलजी की यात्रा के लिये आप इतने मनुष्य आए हैं, इसको देख कर मुझे बहुत आनन्द होता है । आप, सुख शान्ति के साथ आपके पवित्र तीर्थ की यात्रा करके सुख से अपने अपने घर पहुँच जॉय, यही मैं चाहता हूँ । गुरुजी श्रीविजयधर्मसूरिजी ने जो प्रेम और शान्ति का वर्णन किया है, उसको मैं बहुत मानता हूँ । उन्हों ने बहुत अच्छा कहा है । आप सब लोगों को शान्ति मिले, ऐसा करना मेरा धर्म है ।" इत्यादि ।

इन सभाओं की सफलता में उदयपुर निवासी शासनप्रेमी सेठ रोशनलालजी चतुर, महुवावाले दोसी दुल्लभदास लक्ष्मीचन्द, अहमदाबाद वाले श्रीयुत मणिलाल डाह्याभाई बी० ए० और अहमदाबाद वाले शाह चंदुलाल हीराचंद वगैरह का परिश्रम सर्वाधिक कारणभूत था ।

पालीताने में, आगरे वाले आपके परमभक्त दानवीर सेठ लक्ष्मी-

खीवाणदी (मारवाड) निवासी :—

शेठ कस्तूरचंदजी सवाजी.

चंदजी वेद की उदारता से उपधान की क्रिया भी हुई थी। जिसमें दो सौ ढाई सौ गृहस्थों ने उपधानक्रिया की थी।

चातुर्मास समाप्त होने के बाद आपके एक और भक्त खीवाणदीवाले सेठ कस्तूरचंदजी ने

बारह कोस का संघ

भी निकाला था। जिसमें आचार्यश्री भी अपने शिष्य मंडल के साथ पधारे थे। इसी उदारगृहस्थ ने आचार्यश्रीलिखित 'धर्मदेशना' ग्रंथ के छपवाने में भी एक हजार रुपयों की सहायता प्रकाशक को दी है। एवं और भी अनेकानेक कार्य किये हैं।

इस प्रकार पालीताने में अनेकों कार्य कर के आप

भावनगर

पधारे। भावनगर जाते हुए सीहोर में आपने तीन दिन पब्लिक व्याख्यान दिये। भावनगर में आप का अभूतपूर्व प्रवेशोत्सव हुआ। यह भावनगर वही है, जिस पर आपके परमगुरु पूज्यपाद महात्मा श्रीवृद्धिचन्द्रजी महाराजश्रीने असाधारण उपकार किये हैं। आपके गुरुश्री का निर्वाण और आपकी दीक्षा यहाँ ही हुई थी। शहर में प्रवेश करने के पहले ही आपने दादा साहेब में अपने गुरुश्री की पादुका के बड़े भक्तिभाव से दर्शन भी किये।

भावनगर में यद्यपि आपने स्थिरता तो डेढ़ महीने ही की की, परन्तु भावनगर की समस्त प्रजा आपके व्याख्यानों पर लट्टू बन गई। उपाश्रय में आप जो व्याख्यान देते थे, उसमें इतने मनुष्य एकत्रित होते थे, जितने संवत्सरी जैसे पर्व के दिन भी नहीं हुआ करते थे। आप के पब्लिक व्याख्यानों में भी बहुत ही जमाव होता था। भावनगर स्टेट के दीवान साहब मी० टन्ना साहब, नायब दीवान साहब मी० त्रिभुवनदास एवं और भी अन्यान्य अधिकारी आपके व्याख्यानों का लाभ लेते थे। सुप्रसिद्ध मी० प्रभाशंकर पट्टनी महाशय भी खास आपके व्याख्यान को श्रवण करने के लिये उपाश्रय में पधारे थे। और दो घंटों तक व्याख्यान श्रवण करने के पश्चात् करीब आध घंटे तक आचार्यश्री के साथ प्राईवेट में वार्तालाप किया था। इन्होंने आचार्यश्री से यह अनु-

रोध भी किया था, कि—' आप यहाँ अवश्य चातुर्मास करें । ताकि मुझे भी कभी कभी आपकी अमृतमय देशना का लाभ मिलता रहे ' ।

आचार्यश्री के सर्व साधारण व्याख्यानों को श्रवण करने वाले सभी मनुष्य यही समझते हैं, कि 'ये हमारे गुरु हैं ।' फिर वे मनुष्य चाहे किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों । भावनगर में एक ऐसा ही समय उपस्थित हुआ था। एक दिन 'विक्टर स्क्वेर' में आप का व्याख्यान था। व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् सुप्रसिद्ध जैन गृहस्थ सेठ कुंवरजी भाई, आप का उपकार मानने के लिये खड़े हुए। कुंवरजीभाई ने ज्योंही ये शब्द निकाले कि-'हमारे धर्मगुरु श्रीविजयधर्मसूरि महाराज....' त्योंही सभा में बैठे हुए समस्त श्रोताओं ने प्रतिवाद किया कि-"आप 'हमारे धर्मगुरु' न कहें, 'अपने धर्मगुरु' कहिये ।" इस समय का दृश्य सचमुच ही दर्शनीय था । सभी लोगों के हृदयों में यही भावना जाग्रत हुई थी कि, ये सभी के धर्मगुरु हैं ।

आचार्यश्री के उपदेश से भावनगर में काशीपशुशाला के लिये एक चंदा भी हुआ; जिसमें करीब दो हजार रुपये एकत्रित हुए ।

आचार्यश्री ने यहाँ की प्रसिद्ध प्रसिद्ध संस्थाएं—**श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा, श्रीआत्मानन्द जैन सभा, श्रीयशोविजय जैन ग्रंथमाला, सेठ प्रेमचंद रतनजी का संग्रहालय, और बारटन लायब्रेरी** वगैरह का भी निरीक्षण किया । इसके सिवाय यहाँ के पुस्तक भण्डार भी देखे ।

उपर्युक्त संस्थाओं में श्रीयशोविजयजैनग्रंथमाला का जो नाम लिया गया है, यह वही संस्था है, जो आपने ही काशी में स्थापित करवाई थी, और जिसके विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है । कुछ अर्से से यह संस्था भावनगर में आई है । इस समय आपके उपदेश से इस संस्था के लिये, भावनगर के उत्साही और शासन प्रेमी जैनगृहस्थों का एक व्यवस्थापक मंडल भी स्थापित हुआ । जब से इस मंडल ने ग्रंथमाला का कार्य हाथ में लिया है, तब से इसकी तेजस्विता और ही प्रकार की हो रही है । आशा है, यह उत्साही मंडल, धीरे धीरे इस ग्रंथमाला की असाधारण उन्नति करेगा ।

भावनगर से विहार करने के पश्चात् आपको यह ज्ञात हुआ कि-"इस गोहेलवाड प्रान्त के जैनों में बहुत ही अविद्यान्धकार छा रहा है। और इसी के प्रताप से लोगों में ऐसे ऐसे कुरिवाज प्रविष्ट हो रहे हैं, जो धर्म को कलंक लगाने वाले हैं और मनुष्यों की जान को भी कभी कभी मृत्यु के मुख में ले जाने वाले हैं।" इस प्रान्त में एक गाँव से दूसरे गाँव को जो बरात जाती है, वह प्रायः करके रात को ही पहुँचती है, और रातही में भोजन करती है। किसी के वहाँ किसी भी निमित्त से जो जिमन हुआ करता है, वह रात को होता है—लोग रात में जिमते है। और किसी के वहाँ किसी की मृत्यु भी होती है, तो उसके पीछे उसके घर वाले छे छे बारह बारह महीनों तक रोना पीटना नहीं छोड़ते। ये तीनों रिवाज आपको बड़े ही बुरे मालूम हुए। इसलिये आप जिस गाँव में जाते थे, इन कुरिवाजों को दूर करवा देते थ। यह

ज्ञातिसुधार

का प्रथम अंग था। आपने भावनगर से विहार करने के पश्चात् घोघा, तणसा, त्रापज, तलाजा, दाठा, महुआ, खुंटवडा और कुंड़ला वगैरह जिन जिन गाँवों में विहार किया, उन सभी गाँवों के जैनों में प्रायः उपर्युक्त ठराव प्रचलित करवाये।

इस गोहेलवाड के विहार में, आपको अपने व्याख्यानों में 'संप' और 'शिक्षा' इन दोनों विषयों पर भी विशेष जोर देना पड़ा। क्योंकि इस प्रान्त के जैनों में जहाँ देखो वहाँ कुसंपने अपना डेरा जमा रक्खा है। एवं असहाय जैनबालकों की शिक्षा के लिये साधनों का भी सर्वथा अभाव देखा जाता है। आप के इन दोनों प्रकार के उपदेशों में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। बहुत से गांवों से कुसंप नष्ट हुआ, बल्कि कुंडला कि, जहाँ वर्षों से क्लेश ने अपना घर किया था, और जिसके लिये लोगों को रत्ती भर भी आशा न थी, कि यहाँ से क्लेश दूर हो जायगा, परन्तु वह भी आप के उपदेशामृत से नष्ट हो गया। इसके सिवाय 'शिक्षा प्रचार' के साधनों के लिये महुवा में 'बालाश्रम' और कुंडला में 'केवणी-फंड' की आपने जो स्थापनाएं करवाई हैं, वे सचमुच आशीर्वाद स्वरूप हैं

इन कार्यों की इस प्रान्त में बहुत ही आवश्यकता थी। जो निराधार जैनबालक, साधनों के अभाव से शिक्षा में आगे बढ़ने का सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकते, उनके लिये ये साधन बहुत ही उपयोगी हैं। महुवा के बालाश्रम की स्थापना में शाह कशलचंद कमलसी अधिक धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने आचार्यश्री के उपदेश से पांच से सात हजार रुपयों की रकम एक साथ बालाश्रम को प्रदान की है।

महुवा में आप के उपदेश से एक और महत्त्व का कार्य हुआ, जिसका उल्लेख, आप के आदर्श-जीवन की गौरवता को बढ़ाने वाला है।

यहा पाठकों को यह स्मरण करा देना उचित समझा जा सकता है कि-यह महुवा वही है, जहाँ आप का जन्म हुआ था। सोलह वर्षों के बाद आप ने अपनी जन्मभूमी को पुनः पवित्र किया। यहाँ घी का व्यापार बहुत होता है। जैनों के उपरान्त हिन्दु और मुसलमान-सभी घी का व्यापार करते हैं। परन्तु वे सभी व्यापारी घी में दूध मिला करके देशान्तरों में भेजते थे। इसका परिणाम यह आता था कि, महुवा के व्यापारियों की प्रमाणिकता में बट्टा लगता था, इसके सिवाय डब्बल दामों के खरचते हुए भी लोगों को अपने बाल बच्चों के लिये दूध बड़ी कठिनता से मिलता था। उस घी में असंख्य कीड़ भी पड़ जाते थे। विसेष दुःखदायक बात तो यह थी कि, उन कीड़ों से भरे हुए घी को सभी व्यापारी कढ़ाइयों में डाल करके गरम करते थे। हाय ! तुच्छ लक्ष्मी के थोड़े से लाभ के लिये इतना अनर्थ ? इतनी घोर हिंसा ? जब यह बात आपके कर्णगोचर हुई, तब आपने इसी बात पर जोर से उपदेश देना प्रारम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि-जैनोंने ही नहीं, परन्तु सारे गाँव के व्यापारियों ने यह बात सर्वथा के लिये उठा दी और यह प्रस्ताव किया कि "**अब से कोई भी व्यापारी घी में जरा सा भी दूध न मिलावे, मिले हुए घी को बेचे नहीं, और वैसे घी को नाव में चढ़ावे भी नहीं।**" इसका पक्का दस्तावेज भी बड़े महाजन की बई में किया गया।

इस विहार के दरमीयान में जिन दो महानुभावों का आप के प्रति बड़ा ही पूज्यभाव प्रकट हुआ है, उन दोनों का नामोल्लेख करना हम भूलेंगे नहीं। इन दोनों में एक हैं तलाजा के वहीवटदार श्रीयुत

मी० अरदेसरजी जमशेदजी सुनावाला.

बी. ए, एल एल. बी.

इ. ए. सेम्युअल साहेब। इन्होंने तलाजे में आचार्यश्री के पांच दिनों में चार पब्लिक व्याख्यान करवाये, आपके व्याख्यानों के सुनने से सेम्युअल साहब की आंतरवृत्तियाँ आपके प्रति अपूर्व भक्तिवाली हुई। अंतिम व्याख्यान के दिन जब सेम्युअल साहब, आपका उपकार मानने के लिये खड़े हुए। उस समय भक्तिरस से भरे हुए उद्गारों के प्रकट करते हुए, उनके नेत्रों में पानी भर आया, और हृदय भी गद्गद हो आया। रुद्धकंठ से आपने येही शब्द निकाले:–" **आप मेरे जैसे तुच्छ मनुष्य को भी अपना सेवक समझ कर आप के पवित्र हृदय के किसी कोने में एक जरा सा स्थान देंगे, तो मैं उसी में ही मेरे जीवन की सफलता समझूँगा।**" एक जैनसाधू के प्रति यांहूदीकुलोत्पन्न सज्जन के ये शब्द, कितने मधुर और रोमाञ्च खड़े करने वाले हैं, इसका पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। इसी तलाजे में **डॉ. एल. पी. टेसीटोरी** भी सूरिजी के दर्शनार्थ आए थे। इनका आतिथ्य भी सेम्युअल साहेब ने वड़ी उत्तमता से किया था।

दूसरे महानुभाव हैं महुवा के न्यायप्रिय मेजिस्ट्रेट **श्रीयुत अरदेसर जमसेदजी सुनावाला बी. ए. एल एल. बी.**। आप एक ऐसे जिज्ञासु पुरुष हैं, जिनके बराबर जिज्ञासु पुरुष हमने बहुत कम देखे। सूरीश्वरजी महाराज के प्रति आप की बड़ी ही भक्ति है। बल्कि आप सूरिजी को अपने गुरु ही समझते हैं। जब तक सूरिजी महाराज महुवा में बिराजे, तब तक इन्होंने बराबर व्याख्यानों को श्रवण किया। आप ही के हाथ से महुवा में **श्रीयशोवृद्धिजैनबालाश्रम** खोला गया है। और **श्रीवृद्धिचंद्रजीमहाराज** की जयन्ती के दिन महात्माश्री का फोटू आप ही के हाथ से खोला गया था। आप का जैनधर्म के प्रति बड़ा ही अनुराग है। और इसी से आप, अंगरेजी में एक विस्तृत **महावीरचरित्र** को भी लिखना चाहते हैं।

महुवा की एक और संस्थाका उल्लेख करना भी हम नहीं भूल सकते। जिसका नाम है **जैनश्राविकाशाला**। करीब १६ वर्षों के पहिले जब हमारे चरित्रनायकजी महुवा में पधारे थे, उस समय यहाँ के जैनों में ऐसा प्रस्ताव करवाया था कि–किसी की मृत्यु के पीछे जीमन न किया

जाय। इस प्रस्ताव को अमल में लाने के लिये यहाँ के सेठ हुकमचंद रामचंद के स्वर्गगमन होने से, उनके पुत्ररत्न श्रीयुत नेमचंद ने शासन प्रेमी श्रीयुत मोहनलाल खोड़ीदास की प्रेरणा से यह श्राविकाशाला स्थापित की। इस शाला में (हुन्नरशाला में) स्त्रियों को कई तरह के हुन्नर सिखाए जाते हैं। इसके संचालक वेही मोहनलाल खोड़ीदास हैं, जोकि आचार्यश्री के परमभक्त हैं। अभी उन दिनों में जब आचार्यश्री महुवा में विराजते थे, आचार्यश्री के सभापतित्व में उपयुक्त संस्था का वार्षिकोत्सव बड़े समारोह से हुआ था। उस समय इस शाला में मिड़वाईफ क्लास भी खोला गया है। जैनों में ऐसी संस्थाएं बहुत ही कम देखने में आती हैं।

महुवा में आचार्यश्री के किए हुए बड़े बड़े उपकारों के बदले में महुवा की समस्तप्रजा ने आप को

मानपत्र

दिया। जिस समय सुनावाला साहब ने एक चित्ताकर्षक और महत्त्व पूर्ण व्याख्यान भी दिया था। उसमें जैन नास्तिक नहीं, परन्तु पक्के आस्तिक हैं, इसको सप्रमाण सिद्ध कर दिखलाया। और इसके साथही साथ आचार्य महाराजश्री के व्याख्यानों के श्रवण करने से आप को कितना लाभ हुआ था, यह भी आप ने सुललितशब्दों में स्पष्ट दिखला दिया।

अमरेली में चातुर्मास।

वर्त्तमान चातुर्मास आपने अमरेली में किया। यद्यपि भावनगर, महुवा, राजकोट, जूनागढ़ और मांगरोल वगैरह कई नगरों के जैनों का आग्रह अपने अपने नगरों में चातुर्मास कराने के लिये ले जाने का था, परन्तु अमरेली के जैन और जैनेतरों के अत्याग्रह से अमरेली में ही चातुर्मास किया। अमरेली में जैनों के घर बहुत कम—३५—४० ही हैं। परन्तु आप के व्याख्यान में आठसौ से हजार आदमी एकत्रित

शासनप्रेमी शाह मोहनलाल खोडीदास.

होते थे। क्योंकि सभी जाति के लोग आप को पूज्य समझ कर व्याख्यान श्रवण करते थे। आप का व्याख्यान जैनउपाश्रय में नहीं, परन्तु कपोलमहाजन की विशाल धर्मशाला में होता था। प्रतिदिन के व्याख्यानों के सिवाय यहाँ आपने ७–८ पब्लिक व्याख्यान भी दिये। ये सभी व्याख्यान प्राय: अमरेली के 'सेवक मंडल' की तर्फ से हुए। इन पब्लिक सभाओं में कभी कभी अमरेली प्रान्त के सूबा साहब मी. अलोनी साहब भी सभापति होते थे। आचार्यश्री के व्याख्यानों के श्रवण करने से जैसे सूबा साहब का आचार्यश्री के प्रति पूर्ण अनुराग उत्पन्न हुआ। वैसेही, अमरेली की समस्तप्रजा भी आप के प्रति पूर्ण भक्तिवाली हुई। और इसी का यह परिणाम था कि, गत संवत्सरी के दिन, आचार्यश्री के उपदेश से अमरेली के हिन्दू और मुसलमान, यावत् कसाई लोगों ने भी अपने अपने व्यापारों को बन्द रख करके

अमारी

पाली थी। इतना ही क्यों ? अमरेली की समस्तप्रजा ने, आचार्यश्री के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिये अमरेली प्रान्त के सूबासाहब के सभापतित्व में

मानपत्र।

भी दिया। इस प्रसंग पर अमरेली की समस्तप्रजा की तर्फ से हिन्दु और मुसलमान व्याख्याताओं ने सुललित और चित्ताकर्षक भाषा में आचार्यश्री के उपकारों और गुणों का वर्णन किया।

इसी समय अमरेली की समस्त मुसलमान ज्ञाति की तर्फ से यह प्रतिज्ञापूर्वक कहा गया कि–प्रति वर्ष संवत्सरी (श्रावकों के वार्षिकपर्व) के दिन अमरेली का एक भी मुसलमान मांस नहीं खायगा।

इसके सिवाय अमरेली जैसे छोटे गांव से भी 'काशीपशुशाल' को करीब नवसौ रुपयों की सहायता मिली, यह कार्य भी आचार्यश्री के उपदेश का प्रभाव और अमरेली के गृहस्थों की उदारता को ही सूचन करता है।

अमरेली में होने वाले अनेक कार्यों में इस कार्य का उल्लेख करना भी हम नहीं भूलेंगे, जो इतिहास में अत्यन्त उपयोगी है। आचार्यश्री के

प्रधान शिष्य इतिहासतत्त्वमहोदधि उपाध्यायजी श्रीइन्द्रविजयजी महाराज इतिहासोपयोगी अनेकों साधनों का संग्रह कर रहे हैं। जिनमें प्राचीन मुद्राओं (सिक्कों) का भी है। अमरेली के साधु इन्द्रजीभाई, संघवी ओधवजीभाई, वैद्य केशवलालभाई, नाजर बापुलालभाई और शाह सरूचंद वस्तांचंद इत्यादि सज्जनों द्वारा आपको ऐसी कई मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, जिनमें दो हजार वर्षों की भी हैं। यह कार्य भी बड़े महत्त्वकाही है। और इसके लिये उपर्युक्त महानुभाव सचमुच धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राप्त होनेवाली मुद्राओं से यह ज्ञात होता है कि, अमरेली भी प्राचीन नगरों में से एक है। यहां के कई टीलों से क्षत्रपराजाओं की मुद्राएं विशेष प्राप्त होती हैं। ये मुद्राएं खास करके जैनम्युझियम में रखने के लिये ही संगृहीत की जाती हैं।

अमरेली में आप के उपदेश से 'श्रीयशोवृद्धिजैनबोर्डिंग और 'श्रीवृद्धिचंदजी जैनलायब्रेरी' ये दो संस्थाएं भी बड़े कामकी ही स्थापित हुई हैं। दोनों संस्थाओं की यहां आवश्यकता थी।

एक बात रह जाती है। अमरेली में कुछ घर मणियारों के हैं। ये किसी समय जैनधर्मी थे। परन्तु हमारे जैनों की संकुचितता और उपेक्षा के कारणों से वे सभी जैनधर्म से विमुख हो गये थे। आचार्यश्री के उपदेशामृत से अब वे सभी पक्के जैनधर्मी बन गये हैं। और जैनधर्म के नियमों को बराबर पालन भी करने लगे हैं।

अन्त में अमरेली के सेठ सुन्दरजी पारेख, श्रीयुत त्रिभुवनदास, वकील हरिलालभाई, वकील वीरजीभाई, वकील गिरिधरभाई, वकील सुंदरजीभाई, शाह तलकचंद जीवाभाई और मेमण अभराम दाऊद वगैरह गृहस्थों को भी धन्यवाद देना नहीं भूलेंगे, कि जो आचार्यश्री के दिखलाये हुए प्रत्येक कार्य की पूर्त्ति करने में हमेशा कटिबद्ध रहे।

हर्ष-प्रदर्शन और प्रार्थना

आचार्य के अथवा यों कहें—कि साधु के क्या कर्त्तव्य होने चाहियें, इसका पता हमें इस आदर्श-साधु से अच्छी तरह मिल सकता है। आचार्यश्री विजयधर्मसूरीश्वरजी ने अपने साधुधर्म को निर्दोष रख करके

जिस 'सेवाधर्म' के महान् सूत्र को यथार्थरीत्या पालन किया है और कर रहे हैं, उससे कोई भी जैन, जैन ही नहीं, कोई भी भारतवर्षीय, भारतवर्षीय ही नहीं, संसार का कोई भी मनुष्य हर्षान्वित हुए विना नहीं रह सकेगा। हम शासनदेवों से प्रार्थना करते हैं कि–वे हमारे सूरीश्वरजी को अधिकाधिक जगत् के प्राणियों के उद्धार करने की शक्ति प्रदान करें, और आपके पवित्र चरणकमल से यह भारतभूमी चिरकाल तक गौरवशालिनी बनी रहे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।